मार्क्सवाद मीमांसा

प्रणता.—

स्वामी सत्यभक्त

सत्याश्रम, वर्धा (प्र. म.)

मम्मेशी ११९५४ इतिहास संवत्

फरवरी १९५४
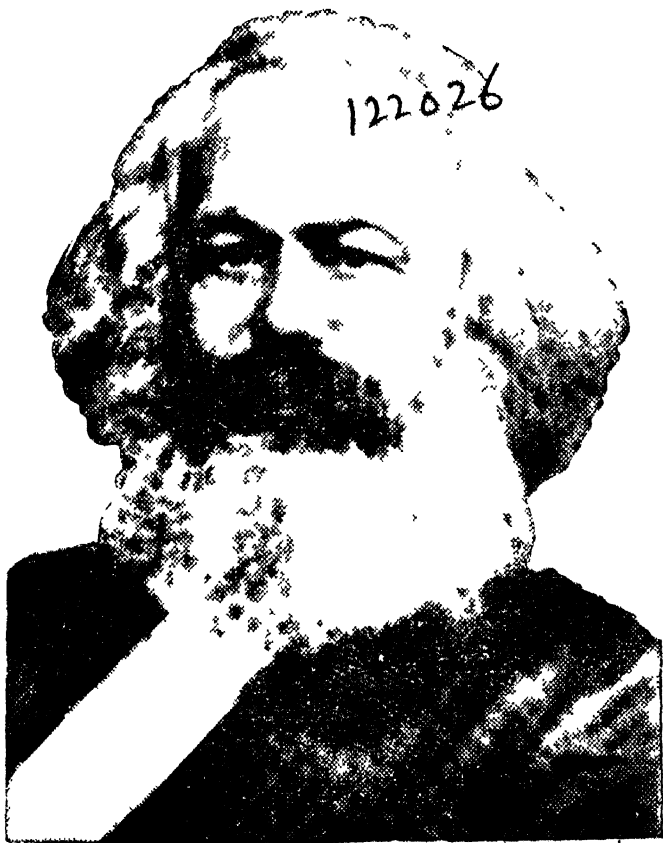
म० कार्ल मार्क्स

समर्पण

[महर्षि कार्लमार्क्स की सेवामें]

महर्षिवर !

आपके विचारों की मीमांसा आपको ही समर्पित कर रहा हूं इसे आप किसी विरोधी की गुस्ताखी न समझें, किन्तु अनुरागीके नम्र सुझाव समझें ! आपने व्यवस्थित रूप में समाजवाद की योजना देकर मानव-जाति का जो परम कल्याण किया है, जनता को सद्विचार देने के लिये जो जीवन भर तपस्या की है और गरीबी के नाना कष्ट और अपमान सहे हैं उनके लिये मानव समाज आपका चिर कृतज्ञ है। आप पैगम्बर हैं, आपने सत्य का पैगाम दिया है, आपके जीवन में न सही, किन्तु उसके बाद दुनियां आपके मार्ग पर चली है और करोड़ों आदमी नरक से स्वर्ग में आयें हैं।

फिर भी जिन परिस्थितियोंमें आप थे, जैसे विरोधी आपके सामनें थे, उनके कारण आपको जैसे को तैसा उत्तर देना पड़ा और दवा के रूप में किसी एक खास गुण पर जोर देना पड़ा, जैसा कि आपके अभिन्न मित्र श्री एगेंल्स के पत्रों से प्रगट है। यह स्वाभाविक था। परन्तु आज करीब एक शताब्दी के बाद आपके बहुत से अनु-यायी आपकी परिस्थिति को भूलकर आपके शब्दोंको पकड़ कर रह गयें हैं, इसलिये कहीं कहीं गतिरोध और अन्याय हो रहा है। उसे दूर करनें के लिये, और आपके विचारों पर जो सामयिकता की छाप थी उसका मर्म बताने के लिये, और उसका व्यापक रूप पेश करनें के लिये यह मीमांसा लिखी है।

मैंनें सत्यलोक मे आपसे चर्चा की थी और आपनें सुधार का समर्थन भी किया था। इसलिये आपको यह मीमांसा समर्पित करते हुए पूर्ण विश्वास है कि मुझे आपका आशीर्वाद प्राप्त है।

सत्याश्रम, वर्धा २४-१-५४
२४ सत्येशा ११९५४ इ. सं.

आपका अनुरागी
सत्यभक्त

दो शब्द....

आज तो मार्क्सवाद दुनिया में करोड़ो को अनुप्राणित कर रहा है। कई महान देशों के शासक अपने शासन को मार्क्सवाद के हिसाब से चलाकर अपनी जनता को सुखी, समृद्ध और सुसंस्कृत बनाने के काम में काफी आगे बढ़े हैं। कई देशों में उस वाद से प्रेरणा प्राप्त महान जन आंदोलन उठ उभर रहे हैं। हमारे अपने देश में भी मार्क्सवाद ने काफी जड़ें जमाली हैं। यह स्वाभाविक है कि विश्व क विचारक और दार्शनिक इतने प्राणवान, रोज ब रोज मानवता के किसी हिस्से में आमूल क्रांति लाने वाले, वाद के बारे में सोचते विचारते रहें। और यह भी स्वाभाविक है कि प्रत्येक अपने ढंग से, अपने विचार करने की परिस्थितियों से प्रभावित होकर मार्क्सवाद को अपने अनुरूप बनानेकी आकांक्षा रखे। इसलिए जब से वह वाद दुनिया में आया है तब से उसकी किन्ही चीजों का खंडन, कुछ का मंडन, कुछ स्थापनाओं को सुधार देने या कुछ को बदलने के सुझाव दिये जाते रहे हैं। इन्हीं को ख्याल में रखकर लेनिन नें अपने प्रसिद्ध तात्विक ग्रंथ 'मटेरियेलिज्म एंड इंपीरिओ क्रीटीसीज्म' की रचना की थी।

पू. स्वामी सत्यभक्त जी सत्य के एकांतिक साधक हैं। उनका अपना विस्तृत स्वाध्याय और स्वानुभव है। जो चीज जैसी उन्हें दिखी, पटी, समझी उसे वे, बिना किसी की पर्वा किए, वैसी ही लिख देते हैं। ऐसा दुर्मिल फक्कड़पन उनकी अपनी खास चीज है। इसलिये उनके गंभीर साहित्य में भी एक जान रहती है। वह शुरू से आखिर तक दिलचस्प रहता है। गहराई और मार्मिकता तो खैर रहती ही है।

उनकी 'मार्क्सवाद मीमांसा' संघर्षों की आग और बिलोड़न से करीबन अप्रभावित है। पूरी चर्चा सात्विक–तात्विक आधार पर की गई है। अच्छी है या बुरी, व्यवहार्य है या अव्यवहार्य, यह चीज तो पाठकों, विचारकों पर ही छोड़ देता हूं। पर मुझे बहुत ही अच्छी लगी, जंची भी।

स्वामी कृष्णानन्द सोख्ता

विषय सूची—

*

मार्क्सवाद-मीमांसा

१—दर्शन और विज्ञान

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक दर्शन है। दर्शन का कार्य है—वैज्ञानिक तरीके से विश्व की ऐसी व्याख्या करना जो किसी धर्म या व्यवस्था के लिये उपयोगी हो। विज्ञान तथ्य की खोज करता है, वह वास्तविकता प्रकट करता जाता है, उसे इस बात की चिंता नहीं होती कि समाज के जीवन पर उसका क्या प्रभाव पडेगा, वह किसी का मुलाहिजा नहीं करता। दर्शन भी वैज्ञानिक द्रष्टिकोणसे विचार करता है. वह श्रद्धा पर जोर नहीं देता, प्रत्यक्ष और तर्क इसके मुख्य आधार रहते है पर भीतर ही भीतर इसका निश्चित ध्येय रहता है कि विश्व की यह व्याख्या अमुक धर्म अर्थात समाज-व्यवस्था के लिये उपयोगी हो। इसलिये संदेहास्पद स्थानों पर दर्शन कुछ कल्पनाओं से काम ले लेता है। कुछ खींचातान भी कर जाता है, ऐसें अवसर पर वह विज्ञान की तरह निष्पक्ष नहीं रहता।

दर्शन का मुंह धर्म की तरफ रहता है, पर खड़ा रहता है वह विज्ञान के पास। पोशाक भी पहनता है वह विज्ञान की। इसलिये एक तरह से वह धर्म से स्वतन्त्र है। धर्म तो अमुक तरह की सामाजिक आचार-विचार की व्यवस्था है। उसके लिये भिन्न भिन्न तरह के कई दर्शन उपयोगी हो सकते है। द्वैत-अद्वैत, ईश्वर-अनीश्वर आदि के भिन्न भिन्न दर्शनों को लेकर एक ही धर्म की प्रतिष्ठा की जा सकती है। एक ही हिंदू धर्म के अनेक दर्शन हैं। एक ही बौद्ध धर्म मे सौत्रांतिक आदि चार दर्शन हैं। इस प्रकार एक ही दर्शन अनेक धर्मोंको मान्य हो जाता है। जैसे ईश्वरवाद बहुत से धर्मोंको मान्य है और एक ही धर्म मे अनेक दर्शन हो सकते है जैसे हिंदुधर्म, इस्लाम और बौद्ध--धर्म मे हैं। इसलिये धर्म और दर्शन को एक तो नहीं कहा जा सकता। हां ! यह बात जरूर है कि दर्शन की सार्थकता किसी धर्म की प्रतिष्ठा करने मे है।

समाजवाद या साम्यवाद के नाम से जिस नई समाज व्यवस्था या धर्म ने दुनियां में प्रतिष्ठा पाई है, उसका एक दर्शन है "**द्वंद्वात्मक-भौतिकवाद्**" इसका अविकसित रूप तो पुराना है, पर धर्म नाम के बिना भी एक धर्म के रूप म और उस धर्म की प्रतिष्ठा के लिये एक दर्शन के रूप मे इसे प्रतिष्ठित किया है महर्षि कार्लमार्क्स ने और उनके परम मित्र एंगेल्स ने।

इस आधुनिक दर्शन में आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धांतों को आधार बनाया गया है और उससे समाजवादी व्यवस्था की-इतना ही नहीं,उस व्यवस्था को लाने के तरीके की-भी दार्शनिक व्याख्या की गयी है। इस. लिये यह स्वाभाविक है कि वैज्ञानिक तथ्यों के निष्कर्ष में कुछ एकांगी-पन या पक्षपात आ जाय। यहां मुझे उस एकांगीपन को दूर करते हुए उसकी संशोधित व्याख्या करना है। तथा साथ मे इस बात का भी विवेचन करना है कि समाजवादी व्यवस्था कब कितने अंशों में उपयोगी है। इन व्यवस्थाओं का चक्र किस नियम के अनुसार घूमता है और किस परिस्थिति मे कौन उपयोगी होता है। वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक सामाजिक तथ्यों के अनुसार इस दर्शनका नाम क्या होना चाहिये आदि।

यहां मुझे द्वंदात्मक भौतिकवाद का ठीक रूप बताना है, उसके आलोच्य अंश की आलोचना भी करना है और फिर एक संशोधित दर्शन प्रतिष्ठित करना है ।

१— द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

द्वन्द्वात्मकता

१:— द्वंदात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रकृति के बाह्यरूप निरंतर गतिशील है प्रकृतिकी शक्तियोंकी परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाके फलस्वरूप एवं प्रकृतिकी असंगतियोंके विकासके फलस्वरूप प्रकृतिका विकास हुआ है। प्रकृति के सभी बाह्य रूपों और पदार्थों में आंतरिक असंगतियां सहज रूप में विद्यमान है। इन पदार्थों के भावपक्ष अभावपक्ष दोनों है। एक अंश मरणशील है तो दूसरा विकासोन्मुख—इन दो विरोधी अंशों का संघर्ष निर्वाण और निर्माणका संघर्ष ही विकास क्रम की आंतरिक प्रक्रिया है। यही पदार्थों की द्वंदात्मकता है। जडता या स्थिरता का नाम प्रकृति नही है, प्रकृति अविराम गतिशील है।

कहने का मतलब यह है कि जो वस्तु पैदा होती है, वह अपने साथ अपनी मौत का बीज भी लाती है। धीरे धीरे वह मृत्यु—बीज पनपता है, संघर्ष या द्वंद्व होता है। और अंत में वह बीज या व्यवस्था नष्ट हो जाती है। यही पदार्थोंकी द्वंदात्मकता है।

इसी द्वंदात्मकता का परिणाम है कि प्राचीन समय का कम्युनिज्म नष्ट हुआ,दासयुग आया, दासयुग नष्ट हुआ, सामंत युग आया, और फिर सामन्त युग भी समाप्त हुआ और उसके स्थान पर पूंजीवाद आया और यह पूंजीवाद भी समाप्त हो रहा है और समाजवाद आ रहा है। यह कुछ व्यक्तियो की इच्छा का परिणाम नहीं है, किंतु पदार्थों की द्वंदात्मकता का स्वाभाविक परिणाम है। पूंजीवाद के भीतर ही भीतर प्रारंभ हो से उनकी मौत के बीज हैं, इसलिये इस द्वंदात्मकता के कारण उसकी मृत्यु अनिवार्य है।

द्वंदात्मक प्रणाली के अनुसार मूलतः वह वस्तु महत्पूर्ण नहीं है, जो किसी समय स्थायी मालूम होती है,परंतु जिसका ह्रास शुरू हो चुका है, महत्वपूर्ण वस्तु वह है जिसका अभ्युदय और विकास हो रहा है।

इस वक्तव्य का तात्पर्य यही है कि समाजवाद आज (मार्क्स के समय मे) कितना भी क्षीण मालूम होता हो पर वही अजेय है, पूंजीवाद नष्ट होगा।

पिछले सौ पचास वर्षों के इतिहास ने यह बात काफी अंश मे साबित भी कर ी है।

२:-- जब संसार निरंतर गतिशील, द्वंद्वात्मक और विकासमान अवस्था में है, यदि पुरातन का क्षय और विकास का एक नियम है, तब यह स्पष्ट है कि चि॰तन सामाजिक व्यवस्थाएं नहीं हो सकतीं, शोषण और व्यक्तिगत स्वामित्व के शाश्वत सत्य नहीं हो सकते, किसान पर जमीदार और मजदूर पर पूंजीपति के प्रभुत्व के त्रिकाल सत्य नहीं हो सकते।

३:— भौतिक विज्ञान मे प्रत्येक परिवर्तन का अर्थ है-परिमाण का गुण मे संक्रमण, जो किसी भी वस्तु में निहित अथवा प्रविष्ट गति के परिणाम में परिवर्तन हो जाने से ही होता है। उदाहरण के लिये पानी के तापमान का प्रभाव उसके द्रव गुण पर नहीं पड़ता, परन्तु ज्यों ज्यों द्रव जल का तापमान बढ़ता या घटता है त्यों त्यों वह स्थिति निकट आती जाती है, जब पानी या तो भाप बन जाता है या बर्फ बन जाता

है। भौतिक विज्ञान मे जिन्हें हम स्थिर बिंदु कहते हैं, (अर्थात् वे बिंदु जहां से पदार्थ की स्थिति ठोस तरल या बाष्प के रूपों मे बदलता है) वे और कुछ नहीं, क्रांति के बिन्दुओं के नाम है। जहां गति के परिणाम सम्बन्धी न्हास और वृद्धि से पदार्थ की स्थिति में एक गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। (पदार्थ के भीतर परमाणुओं की गति की तीव्रता ही उष्णता है और मंदता ही शीतता।) अर्थात् क्रांति-बिंदुओं पर परिणाम का (गति परिमाण का) गुण में रूपान्तर हो जाता है।

गुणात्मक परिवर्तनों के विज्ञान को हम रसायन शास्त्र कह सकते हैं। उदाहरण के लिये आक्सिजन के अणु में दो परमाणु होते हैं। यदि इन दो के बदले तीन परिमाणु कर दिये जांय तो ओजोन बन जाता है, जो गंध और प्रतिक्रिया मे साधारण आक्सिजन से नितांत भिन्न होता है और जब आक्सिजन विभिन्न अनुपातों मे नाइट्रोजन या गंधक से मिलाया जाता है तब तो उसका कहना ही क्या ? हर अनुपात से ऐसा पदार्थ बनता है जो गुणात्मक दृष्टि से दूसरे पदार्थों से भिन्न होता है।

वह वृद्धि या न्हास जो विशुद्ध रूप से परिमाण सम्बन्धी है कुछ क्रांति बिंदुओं तक पहुंचकर एक ऐसे गुण भेद का कारण बन जाता है जो कई सीढ़ियों को एक साथ लांघ जाने के समान है। उस स्थिति में परिमाण का गुण में रूपांतर होता है।

अचेतन से चेतन की ओर निर्जीव पदार्थ से सजीव प्राणी की अवस्था में संक्रमण एक छलांग में नई स्थिति में पहुंच जाने के समान है।

जन विकास का यह नियम है कि परिमाण सम्बन्धी धीमे परिवर्तन अकस्मात् और शीघ्रता से गुण सम्बन्धी परिवर्तनों का रूप धारण कर सकते हैं, तब स्पष्ट है कि पीड़ित वर्गों द्वारा की गई क्रांति भी एक अत्यन्त स्वाभाविक और अनिवार्य घटना है। इसलिये धीमे धीमे परिवर्तनों और सुधारों द्वारा पूंजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण करना असम्भव है। इस ढंग से पून्जीवाद की गुलामी से मजदूर वर्ग को आजादी नहीं मिल सकती। यह तभी सम्भव है, जब क्रांति द्वारा पून्जीवादी व्यवस्था में एक गुणात्मक परिवर्तन किया जाय। इसलिये नीति

भूल न करने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य सुधारवादी न होकर क्रांतिकारी हो ।

जब विकास का क्रम है कि आंतरिक असंगतियों के खुलने से वह आगे बढ़ता है और इन असंगतियों पर विजय पाने के लिये उन्हीं के आधार पर विरोधी शक्तियों में संघर्ष होता है, तब यह स्पष्ट है कि मजदूरों का वर्ग संघर्ष एक अत्यन्त स्वाभाविक और अनिवार्य घटना है । इसलिये पून्जीवादी व्यवस्था की असंगतियों पर पर्दा न डालकर उन्हें खुला करना चाहिये और सुलझाना चाहिये । वर्ग संघर्ष को रोकने का प्रयास न करके हमें उसे उसके अन्तिम परिणाम तक लेजाना चाहिये । इसलिये बिना किसी मेरु मुलाहिजे के हम सर्वहारा श्रेणी की नीति का पालन करें; न कि सर्वहारा और पून्जीवादी वर्गों के हितों में सामञ्जस्य स्थापित करने की सुधारवादी नीति का और न पूंजीवाद के समाजवाद में विकसित होने की समझौता-वादियों की नीति का ।

४:— विकसित होने का अर्थ सीधे सीधे बढ़ना नहीं है कि जिसमें परिमाण के परिवर्तन से गुणों में परिवर्तन न हो । द्वन्द्ववाद के अनुसार विकास क्रम में हम अदृश्य और अकिंचन परिमाण सम्बन्धी परिवर्तनों से स्पष्ट और मौलिक गुण सम्बन्धी परिवर्तनों तक पहुंच जाते हैं । इस विकास-क्रम में गुण सम्बन्धी परिवर्तन धीरे-धीरे न होकर हठात्, एक मंजिल से दूसरे मंजिल तक छलांग मारकर शीघ्रता से होते हैं । ये परिवर्तन आकस्मिक नहीं होते, वे धीरे-धीरे घटित होने वाले, प्रायः अदृश्य परिमाण सम्बन्धी संघटन के स्वाभाविक परिणाम हैं । पर इस विकास क्रम का यह अर्थ नहीं है कि जो पहिले हो चुका है, वही धीरे-धीरे दुहराया जा रहा है, न कोल्हू के बैल की तरह एक ही जगह चक्कर मारने का नाम विकास है ।

विकास की गति ऊर्ध्वोन्मुख है और अग्रसर होती है; पहिले की गुणात्मक परिस्थिति से दूसरी गुणात्मक परिस्थिति तक संक्रमण का नाम विकास है । साधारण से संश्लिष्ट और निम्नसे ऊर्ध्व की ओर होता है ।

डार्विन के अनुसार आज का चराचर विश्व—वनस्पति, जीव फलतः मनुष्य भी—सभी कुछ विकास क्रम का परिणाम है जो करोड़ों वर्षों से लगातार होता चला आ रहा है।

लेनिन ने कहा है "विरोधी तत्वों के संघर्ष का नाम विकास है"

---*---

भौतिकता

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दर्शन अपनी भौतिकता की मान्यता से पुराने दर्शनों की तीन प्रसिद्ध बातों का विरोध करता है।

क—चेतना द्वैतवाद (ब्रह्माद्वैत, विज्ञान द्वैत, शून्यवाद आदि)

ख—ईश्वरवाद

ग—आत्मवाद

मार्क्सवादी लोग इन तीनों वादों को आदर्शवाद कहते हैं और विरोध करते हैं। उनके वक्तव्य ये हैं :—

"संसार स्वभाव से ही भौतिक है।"

"संसार को किसी व्यापक आत्मा की आवश्यकता नहीं है।"

व्यष्टि मे समष्टि रूपी इस संसार को किसी देवता या मनुष्य ने नहीं बनाया वरन् वह एक सप्राण ज्योति है जो थी, है और सदा रहेगी। वह नियमित रूप से चल जल उठती है और नियमित रूप से ठंडी हो जाती है।" हिरैक्ला इटस के इस वक्तव्य को लेनिन ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के मूलभूत तत्वों की बड़ी अच्छी व्याख्या कहा है।

आदर्शवाद केवल चित्त की वास्तविक सत्ता स्वीकार करता है। उसके लिये प्रकृति भौतिक जगत् की सत्ता केवल हमारे चित्त में, इन्द्रिय बोध में कल्पनाओं और संवेदनाओं में है। इसके प्रतिकूल

मार्क्सीय भौतिकवादी दर्शनका कहना है कि प्रकृति या भौतिक संसार की सत्ता एक वैज्ञानिक वास्तविकता है जो हमारे चित्त के बाहर और स्वतंत्र है। पदार्थ (भूत) मूल है क्योंकि वही संवेदनाओ कल्पनाओ और चित्त का उद्गम है। चित्त गौण और उसी से उत्पन्न है। क्योंकि वह पदार्थ का, सत्ता का प्रतिबिम्ब है। पदार्थ (भूत) विकसित होकर उच्च अवस्था में मस्तिष्क का रूप धारण करता है;

विचारों की क्रिया मस्तिष्क द्वारा सम्पन्न होती है; इसलिये विचार पदार्थजन्य है। विचारो को प्रकृति और पदार्थ से विच्छिन्न करना भारी भूल है।"

'पदार्थ मनसे उत्पन्न नहीं हुआ किंतु मनही पदार्थ (भूत) की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है।'

'चेतना केवल सत्ता का प्रतिबिम्ब है।'

"आदर्शवाद हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता को स्वीकार नही करता। उसके लिये वस्तुगत सत्य नाम का कोई सत्य नहीं है। उसका विश्वास है कि संसार में ऐसे वस्तु तत्व है जिनकी विज्ञान को कभी भी जानकारी नही हो सकती। मार्क्सीय दार्शनिक भौतिकवाद का कहना है कि ससार और उसके नियम पूर्णरूप से बोध-गम्य है। अभ्यास और प्रयोग की कसौटी पर परखा हुआ हमारा प्रकृति के नियमो का ज्ञान प्रामाणिक है और वैज्ञानिक सत्य के समान निभ्रांत है। संसार में अज्ञेय कुछ नहीं है, अज्ञात वस्तुयें है, जो विज्ञान द्वारा ज्ञात हो जायंगी।"

---*---

भौतिकता और समाज

"यदि प्रकृति, सत्ता, भौतिक संसार मूल है और मन, विचार उससे उत्पन्न और गौण है, यदि भौतिक संसार मनुष्य के मनसे स्वतंत्र एक वस्तुगत सत्य है और मन इस वस्तुगत सत्य का प्रतिबिम्ब है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज का भौतिक जीवन, उसकी

सत्ता भी मूल है और उनका आध्यात्मिक जीवन उससे उत्पन्न और गौण है। समाज का भौतिक जीवन, एक वस्तु-गत सत्य है जिसका अस्तित्व मनुष्य की इच्छा से स्वतंत्र है; समाज का आध्यात्मिक जीवन इस वस्तुगत सत्य का, सत्ता का प्रतिबिम्ब है।"

"नये सामाजिक विचार और सिद्धात तभी उत्पन्न होते हैं, जब समाजके भौतिक जीवनका विकास समाजके सामने नये काम रखता है"

"बड़े आदमियों की शुभ कामनाओं की चिंता न करके समाज के भौतिक जीवन के विकास की वास्तविक आवश्यकताओं का ध्यान रखना चाहिये"

"यदि प्रकृति के बाह्य रूपों की परस्पर निर्भरता और सम्बद्धता प्रकृति के विकास का एक नियम है तो सामाजिक जीवन की घटनाओं की परस्पर निर्भरता और सम्बद्धता भी कोई घटना नहीं है, वरन् सामाजिक विकास का एक नियम है। इसलिये सर्वहरा वर्ग की पार्टी को अपनी नीति महान् व्यक्तियों की सद्भावनाओं या अन्तःप्रेरणाओं अथवा संसार की रीति नीति के अनुसार निर्धारित न करना चाहिये किन्तु सामाजिक विकास के इन नियमों और इन नियमों के अध्ययन के बलपर करना चाहिये।"

"समाज के आध्यात्मिक जीवन के निर्माण के मूल सूत्र को सामाजिक विचारों सिद्धांतों राजनीतिक मतों और संस्थाओं के उद्गम को उन विचारों, सिद्धांतों मतों और राजनीतिक संस्थाओं में न खोजना चाहिये जिसका कि ये विचार सिद्धांत मत आदि प्रतिबिंब हैं।"

यद्यपि महर्षि कार्लमार्क्स नें भौतिक परिस्थियों पर ही ज्यादा जोर दिया है, परंतु वे यह नहीं कहते कि जीवनमें सामाजिक विचारों सिद्धांतों राजनीतिक मतों और राजनीतिक संस्थाओं का कोई महत्व नहीं। उनका कहना सिर्फ इतना ही है कि इनका उद्गम भौतिक परिस्थितियां हैं।

भौतिक परिस्थितियां

वे भौतिक परिस्थितियां क्या हैं जिनसे सामाजिक जीवन में विकास या क्रांति होती है ? उन परिस्थितियों में मुख्य नियामक परिस्थिति कौनसी है और गौण कौनसी ? ये परिस्थितियां तीन हैं---

१--- भौगोलिक परिवर्तन ।
२--- जनसंख्या ।
३--- जीवन साधनों को प्राप्त करनें की प्रणाली ।

इनमें से तीसरी परिस्थिति ही महत्त्व की है । भौगोलिक परिस्थिति के परिवर्तन हजारों लाखों वर्षों मे होते हैं, जब कि सामाजिक परिवर्तन कई बार हो जाते हैं । भौगोलिक परिस्थिति का असर पड़ता है जरूर, पर सामाजिक परिवर्तन अन्य कारणों से होते हैं । यूरोप की भौगोलिक परिस्थिति मे पिछले तीन हजार वर्षों में कोई खास परिवर्तन नहीं हुए, पर सामाजिक परिवर्तन कई बार असाधारण मात्रा में हो गये । प्राचीन पंचायती व्यवस्था का युग, पूंजीवादी युग और समाजवादी युग । इस तरह भौगोलिक परिवर्तन न होने पर भी सामाजिक परिवर्तन हो गये हैं । इसलिये भौगोलिक परिस्थिति को इनका नियामक नहीं माना जा सकता ।

जनसंख्या का भी सामाजिक जीवन पर काफी असर पड़ता है । बहुत थोड़ी जनसंख्या, में ठीक ठीक आर्थिक विकास नहीं होता । पर जितनी अधिक जनसंख्या, उतना अधिक विकास; ऐसा नियम भी नहीं है । इसलिये जनसंख्या को भी इतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता ।

मुख्य नियामक कारण तीसरा है जीवन साधनों को प्राप्त करनें वाली प्रणाली । इसमें दो बातों का समावेश है---(१) उत्पादक शक्ति और (२) उत्पादन संबंध ।

(१)--- उत्पादक शक्ति में उत्पादन के अनुभव, श्रम, कौशल, वे औजार जिससे उत्पादन होता है आदि शामिल हैं । क्या काम हुआ इसका महत्व नहीं है, किंतु किन साधनों से हुआ---इसका महत्व है ।

हाथ के चर्खे से भी दो सौ नम्बर का सूत काता गया है, पर इसी से हाथ के चर्खे का युग विकसित न माना जायगा। श्रम, कौशल, की अपेक्षा औजारों के विकास का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। श्रम कौशल विशेष होनें पर भी पत्थर के औजारों के युग की अपेक्षा लोहे के औजारों का युग अधिक विकसित है।

(२)-- विकास की भौतिक परिस्थितियों में दूसरी चीज़ है-उत्पादन सम्बन्ध। उत्पादन में परस्पर सम्बन्ध मालिक और दास का है-कि पूंजीपति और नौकर का है-कि साझेदारी का है,-व्यक्तिवादी है या समाजवादी आदि बातों से भी विकास का पता लगता है।

३—पांचयुग

भौतिक परिस्थितियों के अनुसार जो उत्पादन सम्बन्धों में अन्तर आते हैं उसके अनुसार पांचयुग बनते हैं या अभी तक इतिहास में दिखाई दिये हैं।

(१)— प्राचीन पंचायती।

(२)— दास प्रधान।

(३)— सामन्तवादी।

(४)— पूंजीवादी।

(५)— समाजवादी।

(१)— प्राचीन पंचायती व्यवस्था मे उत्पादन के साधनो पर समाज का अधिकार था। पत्थर के हथियार या मामूली धनुष बाण के कारण मनुष्य अकेला रह कर प्रकृति की शक्तियों और हिंस्र पशुओं का सामना नहीं कर सकता था। इसलिये सब लोग मिलजुल कर काम करते थे और सब बांट बांट कर खाते-पीते थे। उस समय व्यक्तिगत स्वामित्व की कल्पना का उदय न हुआ था। जिस व्यवस्था में न वर्ग थे, न शोषण था। पूरी तरह कम्युनिज्म था।

(२)-- जब मनुष्य के पास धातु के औजार हो गये, खेती होनें लगी, दस्तकारी का विकास हुआ, माल की अदला-बदली होनें लगी; तब यह सम्भव हो सका कि एक के श्रम का लाभ दूसरा उठा सके। तब दास प्रथा का प्रवेश हुआ। इसके पहिले लोग दुश्मनों को जीतकर या तो खाजाते थे या मार डालते थे। पर औजारों के विकास से जब शोषण का द्वार खुल गया तब उन्हें दास बनाया जानें लगा। इस तरह दास प्रधान युग था।

(३) सामंतवादी युगः--- दास युग में दास मजदूर दिल-चस्पी से काम नहीं करते, उनकी योग्यता का विकास नहीं होता; इसलिये स्वतंत्र मजदूरों का फैलाव होता है। दास भी बनें रहते है, पर स्वतंत्र मजदूरों या किसानों की संख्या बढ जाती है।

(४) पूजीवादी युगः--- जब मशीनो का विकास और बढ़ जाता है, और श्रमिकों के पास वे मशीनें रह नहीं पातीं तब मशीन मालिकों की प्रधानता वाला युग आजाता है।

(५) समाजवादी युगः--- जब पूंजीवादी युग में मशीनों का उत्पादन बढ़ ज़ाता है और मजदूरों को काम न मिलनें से बेकारी से उनकी क्रय शक्ति घट जाती है तो मशीनों का माल भी पड़ा रहनें लगता है। इस प्रकार पूंजीवादी अपनी ही असंगतियों में फंस जाते हैं तब उसका स्थान समाजवाद ले लेता है।

---*---

मार्क्सवाद का ध्येय

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद दर्शन का ध्येय यह था कि पूँजीवादी व्यवस्था हटाकर समाजवादी व्यवस्था लाई जाय और इस काम में वह सफल हुआ। करोडों मनुष्यों का जीवन इससे सुधरा। मानव जाति में इस दर्शन द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में आशातीत लाभ उठाया है। इस राह पर चलकर मनुष्य आगे भी बढा है। और अभी और भी बढ़ेगा। इस द्रष्टि से महर्षि मार्क्स एक पैगम्बर हैं, वन्दनीय हैं। परंतु

जहां तक दर्शन का सवाल है, इस दर्शन में कुछ अधूरापन या एकांगीपन है। साथ ही कुछ निष्कर्ष भ्रम पूर्ण भी हैं !

महर्षि मार्क्स के सामनें जो परिस्थिति थी, उसे देखते हुए यह क्षन्तव्य ही कहा जायगा। सच पूछा जाय तो विश्व की व्याख्या करना महर्षि मार्क्स का ध्येय नहीं था, किंतु समाज का आर्थिक ढांचा बदलना सामंतवाद पूंजीवाद के स्थान पर समाजवाद ही महर्षि मार्क्स का ध्येय था। इसकी पूर्ति मे जो मान्यताएं या विचार बाधा डालते थे, उनका खंडन करना भी जरूरी था। इस खंडन के कारण कुछ अधूरापन आ गया था, आर्थिक परिवर्तन ध्येय होनें से सारा जोर आर्थिक साधनों पर पड़ गया था।

इस त्रुटि को महर्षि मार्क्स के साथी और परम सहयोगी एंगेल्स नें १८९० में एक पत्र म स्वीकार किया है। वे कहते हैं:—

"मार्क्स और मैं कुछ हद तक इसके लिये जिम्मेदार हूं, जो कि नई पीढ़ी कभी कभी आर्थिक पहलू पर जरूरत से ज्यादा जोर दे देती है। अपनें विरोधियों को जबाब देनें के लिये यह जरूरी था कि उस मुख्य तत्व पर ज्यादा जोर देते जिनका कि विरोधी इनकार करते थे।"

दूसरे पत्र में एंगेल्स लिखते हैं—

"इतिहास के लिये अंतिम निश्चायक कारण वास्तविक जीवन वस्तुओंका उत्पादन और उत्पादक शक्तियां हैं। इससे अधिक पर न मैंनें जोर दिया है, न महर्षि मार्क्स नें। लेकिन जब कोई इस कथनको तोड़-मरोड करता है और कहता है कि आर्थिक बातें ही एक मात्र तत्व हैं तो वह अर्थ का अनर्थ करता है। आर्थिक परिस्थिति आधार है, किंतु ऊपरी ढांचे की कितनी ही बातें वर्ग-प्रतियोगिता के राजनैतिक रूप और उनके परिणाम, विधान, कानूनी रूप और इन वास्तविक प्रतिक्रियाओं में भाग लेनें वाले दिलों में होती प्रतिक्रियायें—राजनैतिक वैधानिक दार्शनिक सिद्धांत, धार्मिक विचार ये सभी ऐतिहासिक संघर्ष पर

प्रभाव डालती ह । और कितनी ही बातों में उनके रूप में निर्णायक होती हैं ।"

इसका मतलब यह कि मार्क्सवाद का एकांगीपन स्वयं महर्षि मार्क्स और एंगेल्सके ध्यानमें था,पर उस समय जरूरी न मालूम होनेसे वह रहनें दिया गया था । पर सचाई की द्रष्टि से आज उस पर ध्यान देना जरूरी है ।

परंतु महर्षि मार्क्स नें जो विचार प्रगट किये, उसमें ऐसी बातें बहुत-सी हैं जो आज भी सत्य हैं और बहुत जरूरी हैं । जैसे—

(१)— किसी भी आर्थिक व्यवस्था से बंधे रहना ठीक नहीं, युग के अनुसार बदलना चाहिये । संसार परिवर्तनशील है ।

(२)— आर्थिक आदि परिस्थितियां वास्तविक हैं, उन्हें माया कह कर टाला नहीं जा सकता, न केवल मोक्ष के आधारपर उसकी चिकित्सा की जा सकती है ।

(३)— यह अन्याय है कि किसी पुराने विधान के कारण मुट्ठीभर आदमी सारी समाज को सताते रहें और विधान में परिवर्तन न किया जाय ।

बहुजन हित की द्रष्टि से हमें परिवर्तन करना ही चाहिये ।

महर्षि मार्क्स के जीवन का, उनके विचारों का मूल्य महान हैं । मानव जाति का उससे असीम कल्याण हुआ है, समाजवादी आर्थिक व्यवस्था का व्यावहारिक रूप पेश करके उननें एक तीर्थंकर पैगम्बर का काम किया है । इसलिये वे इसके अनुरूप सम्माननीय हैं परंतु परिस्थितिवश उनके दर्शन में जो त्रुटियां रह गई हैं, उनका सुधार करके हमें कुछ और आगे बढ़ना है । यह तथ्य की द्रष्टि से जरूरी है । और सत्य की अर्थात् लोक-कल्याण की द्रष्टि से भी जरूरी ह ।

४— मार्क्सवाद पर— प्रश्नवाचक चिन्ह....?....?....?

१:— गति प्रकृति का स्वभाव है इसलिये परिवर्तन उसका अनिवार्य परिणाम है, परंतु मौत क कारण जन्म के ही साथ रहता है या परिवर्तन के द्वारा पीछे पैदा होता है ?

२:— सामाजिक व्यवस्थाओं के शाश्वत सत्य नहीं हो सकते, यह ठीक है; परंतु क्या परिवर्तन के कोई सिद्धांत नहीं है ? क्या कहीं कोई मर्यादा नहीं है ? और परिवर्तन में क्या उनका कोई स्थान नहीं है ?

३:— पदार्थ क्रांतिबिंदु के बाद तरल से ठोस या बाष्परूप बनता है, इसी प्रकार समाज में भी रूपांतर होता है—यह ठीक है, परंतु क्या इसके लिये जरूरी है कि परिवर्तन इकदम उछलकर हो, धीरे धीरे सुधार से क्या परिवर्तन नहीं हो सकता ?

४:— परिवर्तन क्या अनन्तकाल तक लम्बी रेखा के समान आगे आगे ही बढ़ते जाते है ? क्या चक्राकार के समान दुहराये नहीं जाते ? क्या यह सम्भव नहीं है कि एक सामाजिक व्यवस्था नष्ट होकर फिर आये ? डार्विन के जीव—विकास का सिद्धांत सामा—

जिक व्यवस्थाओं को (समाजवाद, व्यक्तिवाद आदि को) कहां तक लागू हो सकता है ? पांचवे युग के बाद नये नय युग ही आते रहेंगे या पीछ के युग से मिश्रण भी होगा ?

५:— मायावाद, शून्यवाद आदि अतथ्यरूप होने के साथ असत्य भी है, क्योंकि इनसे सामाजिक व्यवस्था के सुधार मे बाधा पड़ती है, परंतु क्या ईश्वरवाद, आत्मवाद भी इसी प्रकार बाधक है ? क्या इन्हें मानकर समाजवादी परिवर्तन नहीं हो सकता ?

६:— क्या आर्थिक साधनों को बदले बिना समाज मे कोई महत्व-पूर्ण परिवर्तन नही हो सकते ? क्या जीवन का ध्येय अर्थ ही है ?

क्या व्यक्ति और समाज के जीवन के विकास मे और कोई तत्व काम नहीं करते ? यदि करते है तो महामानवों के विचार क्या उतने ही उपेक्षणीय है, जितने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ने बताये है ? यदि जीवन साधनों को प्राप्त करने की प्रणाली में परिवर्तन न हो, प्राकृतिक तथा जनसंख्या सम्बन्धि परिवर्तन भी न हो तो क्या समाज का परिवर्तन रुक जायगा ?

७:— समाज द्वंद्वात्मक है, इसलिये विकासशील है—यह तो नहीं कहा जा सकता ! क्योंकि इससे बुरे परिवर्तन भी होते है । तब वह कौन सी चीज है जिसके आधार पर समाज में उचित परिवर्तन होते है या उचित परिवर्तनों की जरुरत मालूम होती है ?

५— प्रश्नों की मीमांसा

●●●●

१— गति और द्वंद्व

—●—

गति प्रकृति का स्वभाव है, यहां तक कि प्रत्येक परमाणु के भीतर निरंतर गति प्रवाह चल रहा है। प्रोटोन को केन्द्र बनाकर एलेक्ट्रोन चारों ओर निरंतर चक्कर मार रहे हैं। इस प्रकार परमाणु अपने भीतर भी स्थिर नहीं है, इसी प्रकार द्वयणु आदि भी आपस में चक्कर मार रहे हैं। इस तरह महर्षि मार्क्स की यह मान्यता कि पदार्थ गतिमय है— यह एक वैज्ञानिक मान्यता ही है। जब सब चीजें गतिमय है, तब परिवर्तनशील भी है। और परिवर्तन का अर्थ है, एक अवस्था का नष्ट होना और दूसरी अवस्था का पैदा होना। यह मान्यता भी वैज्ञानिक है और बहुत से प्राचीन दार्शनिकों ने भी इसे माना है।

परन्तु महर्षि मार्क्स ने इस निर्विवाद नियम का एक विवादग्रस्त निष्कर्ष निकाला है, वे कहते है कि संसार मे जो बड़ी २ घटनायें होती है—अर्थ—क्रांतियां होती हैं, वे भी इसी स्वाभाविक परिवर्तनशीलता का परिणाम है, उनका होना अनिवार्य है। एक पदार्थ जब पैदा होता है,

तब जन्म के साथ अपने नाश के बीज लाता है । प्रत्येक समाज व्यवस्था भी इसी प्रकार जन्म के साथ अपनी मृत्यु के बीज लाती है । इस कारण से यह अनिवार्य है कि पूंजीवाद मरे और उसके स्थान पर समाजवाद आये ।

इसी प्रकार पदार्थ की गत्यात्मकता का निष्कर्ष महर्षि मार्क्स ने समाजवाद की अनिवार्यता निकाला है । मैं मानता हूं कि महर्षि मार्क्स ने दुनिया को समाजवाद का कार्यक्रम देकर दुनिया का बड़ा उपकार किया है, इसके लिये उनका त्याग और कष्ट साहिष्णुता असाधारण है, इस तरह वे बंदनीय है, परन्तु इस सत्य धर्म को समझाने के लिये जो उनने दर्शन दिया है, वह काफी भ्रामक है, उनके निष्कर्ष में गलतियां है ।

पदार्थ गत्यात्मक जरूर है, परिवर्तनशील भी है; परन्तु इस स्वभाव के कारण वह विषम परिवर्तन अवश्य करेगा-यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि परिवर्तन करना स्वभाव है, विषम परिवर्तन करना स्वभाव नहीं है । वह तो परिस्थितियों की या अन्य निमित्तों की देन है । एक परमाणु को ही लें जो अपने एलेक्ट्रोनों की गति के कारण गत्यात्मक है, पर क्या यह नियम है कि एलेक्ट्रोन हर चक्कर में अपनी गति बदलें ही ?

क्या वे बार-बार एक-सा ही चक्कर नहीं लगाते ? इस प्रकार हम देखते हैं कि परमाणु में गति तो है पर विषमता नहीं, वे समान रूप में असीम समय तक चक्कर लगा सकते हैं । इस प्रकार उनमें परिवर्तन तो होगा पर विषमता न होगी अर्थात् विषम परिवर्तन उसका स्वभाव नहीं है, न अनिवार्य है । हां, यह हो सकता है कि यूरेनियम के परमाणु में कोई न्यूट्रन घुसकर प्रलय मचा दे, उसके प्रोटोन तितर-बितर कर दे, एलेक्ट्रेनों को अस्तव्यस्त कर दे । ऐसी अवस्था में परमाणु में प्रलय होगा-विषम परिवर्तन होगा, पर यह उसका स्वभाव नहीं है, न अनिवार्य ह । किसी विशेष निमित्त मिलने पर ही यह सम्भव है । ऐसा हो सकता है कि निमित्त न मिलने पर लाखों वर्षों तक परमाणु

ज्यों के त्यों घूमते रहें और निमित्त मिलने पर एक सेवण्ड में क्रांतिमय हो जायं—ऐसी अवस्था में परिवर्तनशीलता के साथ विषम परिवर्तन का नियम नहीं बनता । समाज की आर्थिक—अवस्था हरदिन कुछ न कुछ बदलतीहै, नई सम्पत्ति पैदा होती है और पुरानी कुछ नष्ट होती है, इसप्रकार प्रतिदिन याप्रतिक्षण आर्थिक परिवर्तन हो रहा है, यह स्वभाव है, परन्तु इस स्वभाव का यह अर्थ नहीं हो सकता कि आर्थिक परिवर्तन होने के कारण आर्थिक प्रणालीका बदलना अनिवार्य है या आर्थिक क्रांति अनिवार्य है । आर्थिक क्रांति होती है, पर अपनी स्वाभाविक अनिवार्यता के कारण नहीं, किन्तु किसी विशेष निमित्त या विशेष परिस्थिति मिलने के कारण । ऐसी अवस्था में पदार्थ की गतिशीलता या परिवर्तन शीलता का अनिवार्य परिणाम क्रांति मानना ठीक नहीं है । हो सकता है कि क्रांति हो जाय या हो सकता है कि सम—परिवर्तन होते रहें । सम-परिवर्तनों के होने से भी पदार्थ की गतिमयता बनी रह सकती है । इसलिये समाजवादी क्रांति न होने पर भी समाज-परिवर्तनशील और गत्यात्मक बना रहेगा । पदार्थों का यह स्वभाव समाजवादी या अन्य क्रांति को अनिवार्य नहीं बना सकता, इसलिये इस क्रांति को भौतिक विज्ञान के नियम से नहीं जोड़ा जा सकता । इस बात को समझने के लिये हम एक दृष्टान्त लें । दुनियां में हजारों पत्थर या चट्टानें भूगर्भ में पडी हुयी हैं । वस्तु—स्वभाव के अनुसार वे गत्यात्मक और परिवर्तन-शील भी हैं, फिर भी हजारों या लाखों वर्ष तक वे पत्थर की बनी रहेंगी । इनमें से किसी एक पत्थर को निकाल कर शिल्पी ने मूर्ति बना ली तब क्या यह कहा जा सकता है कि पत्थर तो परिवर्तनशील था, उसकी गोल मटोल अवस्था अपने साथ ही अपनी मौत लाई थी, इस लिये द्वन्द्वात्मक था, तब मूर्ति बनना अनिवार्य था! इस प्रकार क्या पत्थर अपनी द्वन्द्वात्मकता के कारण ही मूर्ति बन गया? तब अन्य पत्थरों में भी द्वन्द्वात्मकता होने से वे मूर्ति क्यों नहीं बने?

इस दृष्टान्त को और भी आगे बढ़ायें । मान लीजिये तीन समान पत्थरों की एक सरीखी मूर्तियां बनाई गयीं । एक ऐसी जगह रक्खी गयीं जहां धूप वर्षा का बचाव था और कोई तोड़फोड़ करनेवाला नहीं

था। दूसरी बाहर रक्खी गई, जहां धूप और वर्षा पड़ती थी, पर कोई तोड़फोड़ करनेवाला नहीं था। तीसरी एसी जगह रक्खी गई, जहां बच्चे खेलते थे। पहली मूर्ति हजारों वर्षोंतक ज्योंकि त्यों रही, दूसरी मूर्ति धूप वर्षा से कुछ शताब्दियों में चटक गई, तीसरी मूर्ति को कुछ महीनों में बच्चों ने तोड़ डाला। वस्तुस्वभाव के कारण तीनों ही गत्यात्मक परिवर्तनशील और महर्षि मार्क्स के शब्दों में द्वन्द्वात्मक हैं तब क्या यह कहना ठीक होगा कि जो मूर्ति टूट गई, वह टूटने का कारण अपने जन्म के साथ लाई थी, इसलिये उसका टूटना स्वाभाविक था, अनिवार्य था। यदि ऐसा होता तो पहली मूर्ति को भी टूटना चाहिये था, तीनों में जन्म के समय कोई विशेषता नहीं थीं, जिससे एक तो द्वन्द्वात्मकता के कारण टूट जाय और दूसरी न टूटे।

कहने का मतलब यह है कि पदार्थमें गत्यात्मकता परिवर्तनशीलता या द्वन्दात्मकता होने से ही किसी पदार्थ में या व्यवस्था में विषम परिवर्तन या क्रांति नहीं होती। इसलिये ऐतिहासिक अर्थक्रांतियों का मूल पदार्थो की द्वन्दात्मकता में नहीं ढूंढा जा सकता।

गत्यात्मकता, परिवर्तन शीलता या द्वन्दात्मकता तो उन ग्रहों में भी है, जो बिल्कुल ठंडे हो गये हैं, पर इसलिये उनमें कोई विकास नहीं कहा जा सकता। परिवर्तन शीलता के कारण विकास या विनाश की भी तरफ गति हो सकती है या समानता भी बनी रह सकती है, परिवर्तन शीलता के कारण मानव शरीर का जवानी तक विकास होता है, परिवर्तन शीलता के कारण जवानी के बाद ह्रास होता है, और मौत भी होती है, और परिवर्तनशील होनेपर भी मूर्ति ज्योंकि त्यों बनी रहती है ऐसी अवस्था में परिवर्तनशीलता को किसी विकास या क्रांति नियामक नहीं कह सकते अथवा यों कहना चाहिये कि पदार्थ की गत्यात्मकता या परिवर्तन शीलता को द्वन्द्वात्मकता नही कह सकते। इसलिये उसे गत्यात्मकता या परिवर्तन शीलता के समानस्वभाव भी नहीं कह सकते। परिवर्तनशीलता या गतिशीलता जैसे--पदार्थ का स्वभाव है, वैसे द्वन्द्वात्मकता नहीं।

द्वंद्वात्मकता का अर्थ यह है कि "जिस तरह की अवस्थाओं में से पदार्थ गुजर रहा है, वैसी अवस्था में अवश्य नष्ट हो जायगा और कोई दूसरी तरह की अवस्थाएं उसमें आयगी। हर तरह की अवस्थाएं पैदा होने के साथ अपने नाश के कारण भी लाती हैं, यही पदार्थ की द्वंद्वात्मकता है।"

परन्तु यह द्वंद्वात्मकता पदार्थ का स्वभाव नहीं कही जा सकती क्योंकि इसके लिये विषम परिवर्तन जरूरी हैं और विषम परिवर्तन पदार्थका स्वाभाविक परिणाम नहीं है, किंतु नैमित्तिक परिणाम है। किसी निमित्त से पैदा होता है। जो निमित्त से पैदा होनेवाली अवस्था है उसका कारण जन्म के साथ आया हुआ कैसे कहा जा सकता है? इसलिये कहना चाहिये कि पदार्थ गत्यात्मक या परिवर्तनशील तो है, पर द्वन्दात्मक नहीं। यदि परिवर्तनशीलता को ही द्वंद्वात्मकता कह दिया जाय तो कहना चाहिये कि उससे विषम परिवर्तन या क्रांति अनि-वार्य है।

महर्षि मार्क्स जिस युग में हुये, उस युग में मशीनों के उदय से उत्पादन के सूत्र कुछ मुट्ठीभर आदमियों के हाथ में जा रहे थे, बेकारी फैल रही थी, उत्पादन बढ़ रहा था, पर बेकारी से खरीदने की शक्ति नष्ट हो रही थी, उससे पून्जीवादियों और मजदूरों में विरोध बढ़ रहा था। एक ऐसी आर्थिक रचना की जरूरत मालूम हो रही थी, जिससे बेकारी दूर हो और मजदूरों को उनकी मेहनत का फल मिले। धर्म संस्था श्रीमन्त वर्ग की वकालत करने के लिये मजदूरों के दुःख पर उपेक्षा की नजर रखती थीं, परलोक मायावाद आदि की दुहाई देती थी और दुःखों के भुलाने के गीत गाती थी। समाज की यही अवस्था ही—महर्षि मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की पृष्ठभूमि है। नई पुरानी व्यवस्था में संघर्ष चल रहा था इसलिये महर्षि मार्क्स को प्रत्येक परिवर्तन में द्वंद्ववाद की प्रेरणा मिली।

धनवान वर्ग अपने निहित स्वार्थों को सुरक्षित रखना चाहता था। इसलिय महर्षि मार्क्स को परिवर्तन शीलता की दुहाई देकर इन निहित स्वार्थों को अस्वीकार करना पड़ा।

उस समय पून्जीवाद पनप रहा था, फिर भी उसमें असंगति दिखाई देती थी, इसलिये महर्षि मार्क्स न माना कि प्रत्येक पदार्थ या व्यवस्था जन्म के ही समय मौत का बीज लाती है। असंगति रखती है।

उस समय संघर्ष के बिना नई व्यवस्था लाना सम्भव नहीं मालूम होता था। इसलिय हरएक परिवर्तन को द्वंद्वात्मक मानना पड़ा।

धर्मशास्त्री लोग अव्यवस्था और दुःखों का ठीक इलाज न करके अध्यात्मके नाम पर, परलोक के नाम पर, माया के नामपर उन्हें भुला देना चाहते थे, इसलिये मार्क्स को भौतिकता पर जोर देना पड़ा।

इस प्रकार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सारे अंगोपांग-उस समय की आर्थिक व्यवस्था के आधार पर बनाये गय हैं। पीछे उन अंगोपांगों को इतिहास और विज्ञान के त्रैकालिक सत्य के रूप में लाने की चेष्टा की गयी है।

पहले मैं एंगेल्स का वह पत्र उद्धृत कर आया हूं जिसमें उनने मार्क्सवाद का एकांगीपन का कारण बताते हुये स्वीकार किया हैं। पर एंगेल्स नें जितना एकांगीपन स्वीकार किया है उतना ही नहीं है, वह और भी अधिक है, इतना अधिक कि हम उसे एक सत्य दर्शन नहीं कह सकते। भले ही हम उनके समाजवाद को, समाजवाद के द्वारा होनेवाले जगत्कल्याण को अस्वीकार न करें।

उस समय आर्थिक परिवर्तनों के लिये द्वंद्ववाद जरूरी था। पर उसे सिद्ध करने के लिये महर्षि मार्क्स नें संसार के प्रत्येक परिवर्तन में द्वंदवाद सिद्ध किया। धनवान वर्ग अपनें वर्गीय स्वार्थों को चिरंतन सत्य कहता था तो महर्षि मार्क्स ने उन स्वार्थोंके साथ संघर्ष करके उन्हें नष्ट कर देना चिरंतन सत्य कहा।

उसकी व्यापकता और चिरंतनता बतानें के लिये उनने दुनियां के इतिहास में द्वंदवाद बताया, प्रकृति के प्रत्येक परिवर्तन में द्वंदवाद बताया। यहां तक कि पदार्थ की गतिशीलता और परिवर्तनशीलता के साथ द्वंद्व जोड़ दिया।

तात्कालिक चिकित्सा की दृष्टि से तो यह ठीक था, परन्तु चिकित्सा के व्यापक सिद्धांतों की दृष्टि से यह ठीक नहीं था। इसलिये उनके समाजवाद को जिस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है, उस प्रकार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को नहीं।

द्वंद्वात्मक शब्द से जो छाप हमारे दिलों पर पड़ती है और महर्षि मार्क्स भी जो छाप डालना चाहते हैं, वह यह कि नई पुरानी अवस्थाओं में दुश्मनी और विरोध होता है, पुरानी व्यवस्था नष्ट नहीं होना चाहती इसलिये नई व्यवस्था उसे जबर्दस्ती नष्ट कर देना चाहती है। नई की पुरानी पर विजय होती है। विजय के लिये युद्ध, संघर्ष या द्वंद्व होता है, इसलिये मार्क्सवाद की दृष्टि में प्रत्येक परिवर्तन या विकास द्वंद्वमय या युद्धमय है। इस प्रकार संसार की साधारण परिवर्तनशीलता या गत्यात्मकता को महर्षि मार्क्स नें युद्ध के रंग में रंग दिया है—यह सब अपने युग की आर्थिक परिस्थिति की द्वंद्वात्मकता से प्रभावित होकर किया है।

निःसन्देह प्रकृति में बड़े बड़े परिवर्तन और विकास द्वंद्वात्मक भी होते हैं। घर में, कुटुम्ब में, समाज में भी संघर्ष या द्वंद्व काफी देखा जाता है, पर यह परिवर्तन का एक ही प्रकार है, अशेष प्रकार नहीं। क्या प्रकृति में, क्या जीवन में, क्या समाज में छोटे बड़े सभी परिवर्तन कहीं संघर्ष या द्वंद्व से होते हैं, कहीं सहयोग या मिलन से होते हैं।

जलकण आपस में टकराकर जब खूब फैल जाते हैं, तब बाष्प बन जाते हैं, वे जब मिल कर पास पास आ जाते हैं, तब जल बन जाते हैं। बाष्परूप होना एक विशाल परिवर्तन है जो संघर्ष से हुआ हैं, जल रूप होना भी एक विशाल परिवर्तन है, जो सहयोग से हुआ है। इस प्रकार परिवर्तनों के मूल में संघर्ष ही नहीं है, सहयोग भी है।

खैर! जड़ पदार्थों के बारे में तो यह नहीं कह सकते कि उनमें परिवर्तन के लिये प्रेम या द्वेष होता है, युद्ध की लालसा होती है। जय पराजय की भावना होती है। वे तो भावहीन रह कर चलते रहते हैं,

मिलते-बिछुडते रहते हैं। इसलिये उनके भीतर द्वंद का सवाल ही नही उठता। जड़ पदार्थों के बारे में द्वंद्वात्मकता की मीमांसा मैं पहले कर आया हूं। अब इसकी मीमांसा सजीव जगत् के परिवर्तनो में करना है, हम इसकी मीमांसा व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज आदि सभी में करते हैं।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ने अनेक लोगों को बहुत अनुचित विचारधारा के चक्कर में डाल दिया है। कुछ लोग यहां तक सोचने लगे हैं कि मां जो बच्चे को दूध पिलाती है, वह भी द्वंद्वात्मक है और इस द्वंद में बच्चों की मां पर विजय है। इसी प्रकार वे पति-पत्नि या नर-नारी के मिलनें में भी द्वंद और जय-पराजय के स्वप्न देखते हैं, क्योंकि जीवन की हर घटना द्वंदात्मक है, इसलिये ये घटनायें भी द्वंदात्मक क्यों न हों? वे द्वंद्व और जय-पराजय के वास्तविक रूप ही भूल जाते हैं।

जड़ जगत में तो द्वंद का सवाल ही नहीं है, सिर्फ प्राणी जगत में ही द्वंद, जय, पराजय आदि समझ में आते हैं। द्वंद्व में ये विशेषतायें होती हैं:—

१:— द्वंदियों में परस्पर द्वेष।
२:— जय-पराजय की भावना।
३:— पराजय की अनिच्छा और जय की इच्छा।
४:— जय में अभिमान और पराजयमें दीनता, दुःख।
५:— प्रतिद्वंदी को विजयी न होनें देनें का यथाशक्य प्रयत्न।

मां जब बच्चे को दूध पिलाती है, तब क्या उनमें द्वेष होता है? क्या जय-पराजय की भावना होती है? क्या मां की इच्छा होती है कि बच्चा मेरा दूध न पीले नहीं तो मेरा पराजय हो जायगा? बच्चा जब मां का दूध पी लेता है तब क्या मां में पराजय की दीनता या दुःख होता है? क्या मां इस बात की कोशिश करती है कि बच्चा दूध पीनें में सफल न हो जाय? निःसन्देह ये सब बातें नहीं होतीं इसलिये ऐसी

घटनाओं को द्वंदात्मक कैसे कह सकते हैं। इसी प्रकार पति--पत्नि के मिलन में भी ये पांचों बातें नहीं होतीं। साधारणतः दोनों ही मिलनें के लिये उत्सुक होते हैं। हां बलात्कार आदि की बात दूसरी है, पर नर-नारी मिलन सब जगह बलात्कार नहीं होते। रानी मक्खी तथा और भी कुछ जानवरों में संभोग के बाद जो परस्पर द्वेष तेज्ञ हो जाता है, यह संभोग के बाद पैदा होनें वाली वितृष्णा का परिणाम है, तथा एक तरह की उग्र स्वार्थपरता का भी परिणाम हैं, जिससे काम निकल जानें पर सहयोगी से द्वेष हो जाता है। साधारणतः नरनारी मिलन की घटनायें द्वंदात्मक नहीं हैं। उसमें परस्पर सहयोग और आकर्षण हैं।

कुटुम्ब में पिता का उत्तराधिकारी पुत्र होता है, यह भी महत्वपूर्ण घटना है, पर इसमें द्वंद नहीं है। पुत्र पिता के साथ द्वंद करके उत्तराधिकारी नहीं बनता और न पिता भी इस बात की चेष्टा करता है कि मेरा पुत्र उत्तराधिकारी न बन पाये। बल्कि उत्तराधिकारी न होनें से पिता दुःखी होता है। उसे पानेंके लिये अनेक प्रयत्न करता है। कुणिक या औरंगजेब सरीखी दुर्घटनायें अपवादरूप हैं, बल्कि इस से अधिक इस प्रकार की घटनायें बहुत हैं कि पिता नें पुत्र को राज्य देकर संन्यास ले लिया। मतलब यह कि कुटुम्ब में घटनाओं की परंपरा होती रहती है, परन्तु वे सब द्वंदात्मक नहीं होती हैं, द्वंदात्मक भी होती हैं परन्तु द्वंदात्मक होनें का नियम नहीं है, उन्हें हम साधारण गत्यात्मक या परिवर्तनात्मक ही कह सकते हैं।

महर्षि मार्क्स ने जिन पांच युगों का उल्लेख किया है, उनमें से सिर्फ एक में ही पूरी तरह से द्वंद्ववाद लागू होता है। पहिला प्राचीन पंचायतों का युग है, उसम शोषण नहीं हैं, औजार इतने क्षुद्र हैं कि अकेला आदमी उस युग में निर्वाह नहीं कर सकता इसलिये व्यक्तिगत सम्पति का सवाल ही नहीं उठता। ऐसी अवस्था में वहां कोई द्वंद्व या अन्तर्द्वन्द्व या असंगति नहीं है कि अपनें आप वह व्यवस्था नष्ट हो जाय। अगर आगे चलकर औजारों का विकास न हुआ होता तो यह

अवस्था न जाने कब तक बनी रही होती। परिवर्तन या क्रांति आन्तरिक असंगति के कारण नहीं, किंतु बाहरी परिस्थितियों के बदलनें के कारण, औजारोंके विकास के कारण हुई। औजारों के विकास से एक आदमी इतनी कमाई करने लगा कि उसकी कमाई से दूसरा निर्वाह कर सके, तब विजित शत्रुओं को मारकर खाने की अपेक्षा उन्हें गुलाम बनाकर रखना ठीक समझा जाने लगा। इसमें अन्तर्द्वंद नहीं के बराबर है, असली कारण औजारों का विकास है और शोषण की सुविधा है।

इसी प्रकार जब औजारों का और भी विकास हुआ, जिसके लिये उत्साह के साथ काम करने वाले चतुर शिल्पियों की जरूरत हुई तब सामान्त युग आया। यह भी दास युग के अन्तर्द्वन्द के कारण नहीं, किंतु औजारों के विकास के कारण हुआ।

जब बड़ी बड़ी मशीनों का अविष्कार हुआ तब गृहोद्योगों ने कारखाने का रूप लिया और पून्जीवादी युग आया। यहां भी सामन्तवादी युग अन्तर्द्वन्द या आंतरिक असंगति के कारण नष्ट नहीं हुआ किंतु मशीनों के अविष्कार के कारण गया।

पर पून्जीवादी युग में उसकी मशीनों के कारण ही अन्तर्द्वंद्व हुआ, क्योंकि उससे पून्जी एक तरफ बहुत ज्यादा सिमट गई और दूसरी तरफ बेकारी आई। इसलिये समाजवाद आया। पहिले युगों में युग परिवर्तन का कारण विकसित औजारों का आविष्कार था,आंतरिक द्वंद्व नहीं। किंतु पून्जीवाद से समाजवाद आनेका कारण औजारों का विकास नहीं था किंतु अंतर्द्वन्द या असंगति थी। पून्जीवाद अपनी असंगति में फंस गया था।

इस प्रकार महर्षि मार्क्स का द्वंद्ववाद का सिद्धांत पून्जीवादसे समाजवाद आने में लागू होता है, पर पून्जीवाद के पहले के युगों में लाग नहीं होता।

यहां यह बात और कह देना उचित होगा कि समाजवाद का प्रसार सिर्फ रूस में या रूसी गुट में ही नहीं हुआ, किंतु इंग्लेन्ड अमेरिका आदि

में भी हुआ। यह ठीक है कि रूस के समान वहां अधिकांश उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ, किंतु सारे समाज को रोटी मिल सके इस दृष्टि से बेकारी भत्ता, बुढ़ापे की पेन्शन आदि के रूप में समाजवाद के ध्येय को अपनाया गया। निःसंदेह इस व्यवस्था को पर्याप्त नहीं कह सकते, पर समाजवाद का दृष्टिकोण यहां भी काम कर रहा है, इसलिये यह कहना ठीक है कि वहां भी पून्जीवादी युग समाजवाद की तरफ बढ़ रहा है।

संसार परिवर्तनशील है और प्राणिजगत विकासशील है इसलिये समाजवाद या उसका वर्तमान रूप भी कायम न रहेगा। आगे औजारों का और भी विकास होगा, इसलिये आर्थिक सम्बन्धों में भी काफी परिवर्तन होगा, पर यदि औजारों म विकास न भी हो, तब भी परिवर्तन होगा क्योंकि सर्वहित की दृष्टि से मनुष्य और भी आगे बढेगा। वह समाजवादी से साम्यवादी बन सकता है, या समाजवाद में व्यक्ति पराधीन अधिक हो जाता है इसलिये समाजवाद व्यक्तिवाद के मिश्रण से बना हुआ निरतिवाद सरीखा कोई वाद अपना सकता है। इन परिवर्तनों का कारण औजारों का विकास या समाजवाद की आंतरिक असंगति ही हो यह नहीं कह सकते। अधिक सर्वहित की सामूहिक भावना से भी ऐसे परिवर्तन हो सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि मार्क्स द्वंद्वात्मकता से जिस आंतरिक असंगति और नयी पुरानी अवस्था में संघर्ष या युद्ध पर जोर देना चाहते हैं, वह एक दर्शन कहा जा सकनेवाला व्यापक सिद्धांत नहीं है, किंतु ईसा की १९ वीं शताब्दी की आर्थिक अवस्था का बहुत अच्छा विश्लेशण मात्र है।

मार्क्सवाद के विषय में इस प्रथम प्रश्नके बारे में जो कहना चाहता हूं उसका सार यह है:—

१:— प्रकृति या जड़ जगत् गतिशील और परिवर्तनशील तो है पर द्वंदात्मक नहीं। अर्थात् प्रत्येक परिवर्तन को द्वंदात्मक कहना ठीक नहीं।

२:— अधिकांश घटनाओं में परिवर्तन के मुख्य कारण बदली हुई परिस्थिति या नये निमित्त होते हैं, आंतरिक असंगतियां कहीं कहीं ही परिवर्तन का कारण होती हैं ।

३:— परिवर्तन या विकास में संघर्ष या द्वंद की मुख्यता नहीं, सहयोग की मुख्यता है ।

४:— नये औजारों के आविष्कार आदि से भी आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन होते हैं तथा विकास भी होता है, पर यह अनिवार्य या व्यापक कारण नहीं है । ठीक कारण है, सर्वहित में आत्महित देखनें की विवेकशीलता और उसके लिये सर्वहितकारी व्यवस्था की तरफ मनुष्य का झुकाव ।

(इसका दार्शनिक विवेचन आगे किया जायगा)

५:— द्वंदात्मक भौतिकवाद, १९ शताब्दी के युरोप की आर्थिक अव्यवस्था का विश्लेषण और चिकित्सा है, व्यापक दर्शन नहीं ।

६:— द्वंदात्मक भौतिकवाद के स्थान पर इसे गत्यात्मक वस्तु-वाद कहना अधिक सार्थक है ।

---*---

२– शाश्वत सत्य

प्रश्न मीमांसा— महर्षि मार्क्स नें जमीदारों और पूंजीपतियों आदि के ऐसे स्वार्थों को, जिनसे देश कंगाल शोषित आदि बनता है, विरोध किया यह ठीक किया । ये लोग अपनी स्थितिको ईश्वर निर्मित, सनातन आदि कह कर युगके अनुरूप आर्थिक प्रणाली का विरोध करते थे । इसके विरोध में महर्षि मार्क्स नें यह ठीक ही कहा कि इस परि-वर्तनशील जगत में कोई व्यवस्था सनातन नहीं है । उस समय ऐसे ही उत्तर पर जोर देना उचित था ।

परन्तु ऐसे उत्तर की ओट में जो अव्यवस्था फैल सकती है उसका उपाय करना भी जरूरी है। यदि कोई आदमी संकट में पड़ कर किसी से कोई रुपया उधार ले और फिर देने के समय यह कहकर इनकार करदे कि जगत में कोई शाश्वत सत्य नहीं है इसलिये तुम्हे रुपये वसूल करनें का कोई अधिकार नहीं है तो क्या ठीक होगा ? यदि कोई शाश्वत सत्य न होने के कारण सारी सरकारी व्यवस्थायें, दिये हुए वचनों का मूल्य, प्रामाणिकता, तथा सामाजिक व्यवहार नष्ट करदे, तो क्या यह ठीक होगा ? अथवा कोई यह कहकर चोरी करना, झूठ बोलना, ठगना शुरू कर दे कि मैं गरीब हूं इसलिये मुझे ये सब कार्य करनें का अधिकार है, जगत में शाश्वत सत्य कुछ नहीं हैं, ईमानदारी आदि सब ढकोसला है तो क्या समाज की कोई भी व्यवस्था टिक सकती ?

क्या बहुमत को यह अधिकार है कि वह अल्पमत को मनचाहे तरीके से लूटले और कहदे कि शाश्वत सत्य कुछ नहीं है ?

इसलिये कोई भी आर्थिक व्यवस्था शाश्वत न होनें पर भी हमें कोई व्यापक सिद्धांत तो ढूंढ़ना पड़ेगा जिसके आधार पर हम युग के अनुरूप आर्थिक परिवर्तन या क्रांति भी कर सकें और अव्यवस्था भी न आनें दें।

जैसे परिवर्तनशील जगत में हमनें परिवर्तन के कुछ स्थायी नियम या सिद्धांत ढूंड लिये हैं उसी तरह परिवर्तनशील आर्थिक व्यवस्थाओंमें भी हमें कुछ स्थायी नियम या सिद्धांत ढूढ लेना चाहिये, जिनकी कसौटी पर कसकर हम आर्थिक क्रांतियों की उचितता अनुचितता का निर्णय कर सकें और उचित क्रांतियों का समर्थन कर सकें।

(१) सर्वजीविका (२) न्यूनश्रम अधिक उत्पादन (३) अर्थचक्र गतिशीलता (४) अर्जिताधिकार (५) वैयक्तिक-स्वतन्त्रता।

इन पांच बातों को आवश्यक या शाश्वत सिद्धांत कहा जा सकता है, जिनके आधार पर आर्थिक क्रांतियों की उपयुक्तता की जांच की जा सकती है।

(१) सर्वजीविका:— समाज एक तरह का फैला हुआ कुटुम्ब है, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अन्न वस्त्र स्थान आदि जीवन सामग्री काफी या व्यक्ति के श्रम के अनुसार मिल सके ऐसी आर्थिक व्यवस्था रहना चाहियें। जीवन सामग्री पाने के लिये जो आदमी उचित श्रम करने को तैयार है उसे श्रमका अवसर मिलना ही चाहिये। काम करनेकी तयारी दिखलाने पर भी कोई आदमी बेकार रहे और जीवन सामग्री न पा सके ऐसी बात न होना चाहिये। सबको काम मिल सके और काम न मिल सके तो जीवन निर्वाह की सामग्री मिल सके ऐसी व्यवस्था होना चाहिये।

(श्रम के मामले में बालक तथा वृद्ध अपवाद रहेंगे)

(२) न्यूनश्रम अधिक उत्पादन:— लोगों को अधिक से अधिक जीवन सामग्री मिल सके और कम से कम श्रम हो, इस प्रकार का प्रयत्न होते रहना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को, संघ को या समाज को इस प्रकार के औजार निर्माण करने और उन्हें काम में लाने का अधिकार है। इससे अगर बेकारी आती हो तो थोड़ा थोड़ा काम सबको बांटनें की व्यवस्था होना चाहिये, पर उन औजारों का उपयोग बन्द नहीं होना चाहिये। कम से कम श्रम में अधिक से अधिक सामग्री पानें की उचित सुविधा रहते हुए भी किसी को अधिक श्रम करनें को और कम सामग्री पानें को विवश नहीं किया जा सकता, न विवशता की परि-स्थिति निर्माण की जा सकती है।

(३) अर्थचक्र गतिशीलता:— अर्थात सेवाचक्र गतिशीलता। व्यक्ति ने समाज की जितनी सेवा की उतने मूल्य की प्रति सेवा पानें का व्यक्ति को अधिकार है। उसे तुरन्त प्रतिसेवा न लेना हो तो वह भविष्य में ले सकता है, यहां न लेना हो न ले अन्यत्र भी ले सकता है।

उस प्रतिसेवा को खरीदने या पाने का प्रमाण पत्र ही धन है। चाहे वह नोटों के रूप में हो, चाहे सोना चांदी के रूप में। जैसे मैंने आज पांच रुपये का काम किया तो मुझे पांच रुपये का खान-पान वस्त्र आदि की सुख-सामग्री मिलना चाहिये। पर यह हो सकता है कि मैं उसे आज ही न खा पी सकूं, या किसी दूसरे दिन के लिये रखना चाहूं तो मुझे यह अधिकार है। यह अधिकार मैं जब चाहे तब काम में ला सकूं इसके लिये मुझे नोट रुपया गिन्नी आदि दिये जाते हैं। यह बिल्कुल स्वाभाविक है। हां ! इसमें क्षेत्र की मर्यादा डाली जा सकती है पर यह अधिकार छीना नहीं जा सकता।

क्षेत्र की मर्यादा यों कि हम अपना अमुक धन अपने देश में ही खर्च कर सकते हैं, दूसरे देश में नहीं कर सकते, या मर्यादाके बाहर नहीं कर सकते। इसी प्रकार जीवन भर प्रतिसेवा ले सकते हैं उसके बाद दूसरा तुम्हारी तरफ से प्रतिसेवा नहीं ले सकता या मर्यादित नहीं ले सकता है। यही कारण है कि उत्तराधिकारित्व करकी योजना की जाती है जो कि उचित है।

समाज की अर्थरचना का मुख्य ध्येय यह है कि हर मनुष्य सेवा दे और सेवा ले। जिससे सेवा को गति मिलती रहे और परस्पर सेवा बढ़ती रहे, समाज की आर्थिक प्रगति होती रहे। कोई मनुष्य सेवा कुछ समय बाद ले वह सुविधा उसे दी जा सकती है, पर सेवा वसूल करने के लिये जो प्रमाण पत्र नोट रुपया गिन्नी आदि उसे मिले उसे रोककर वह सेवा चक्र को अर्थात् अर्थचक्र को बन्द करदे और इससे देश में बेकारी कर दे, ऐसा अधिकार उसे नहीं दिया जा सकता। इसलिये उत्तरा-धिकारित्व कर आदि की व्यवस्था उचित है।

इसके बाद भी कुछ और दुरुपयोग होता है। मैंने पांच रुपये ले लिये, जिससे मैं पांच रुपये की प्रतिसेवा कभी और कहीं वसूल कर सकूं मुझे पांच रुपये की प्रतिसेवा लेनें का अधिकार है। यहां तक ठीक है। पर मैं पांच रुपये की प्रतिसेवा नहीं लेता, किन्तु पांच रुपये किसी को

ब्याज पर दे देता हूं और कुछ समय बाद पांच के छः ले लेता हूं । यहां मैंनें सेवा नहीं की है फिर भी पांच के छः कर लिये हैं। समाज की मौलिक अर्थ व्यवस्था का यह भंग है । समाज को मौलिक अर्थ व्यवस्था यह है कि तुम सेवा करो और प्रतिसेवा लो । प्रतिसेवा वसूल करनें के प्रमाणपत्र रखने को सेवा न समझो। समाज की इस मौलिक अर्थ-व्यवस्था का भंग होनें से ही ब्याज को या पूंजीवाद को अनुचित समझा जाता है । आर्थिक चक्रको गतिरोध करनें के कारण ही अधिक धन संग्रह को पाप माना गया है ।

यद्यपि ब्याजको रोक सकना कठिन है,क्योंकि धनके द्वारा बहुसुविधा मिल जाती हैं जिससे मनुष्य अधिक कमा सके,छोटी दूकान वालेंकी अपेक्षा बड़ी दुकान वाला ज्यादः विक्रय कर सकता है इसलिये ज्यादा मुनाफा पा सकताहै । इस प्रकार जब धनमें यह अर्जन शक्ति है तब ब्याजके रूपमें कुछ कमीशन देना लेना भी स्वाभाविक है । इसका कोई उपाय नहीं। उपाय न होने से यह रहेगा, पर जहां जितना उपाय किया जा सकेगा वहां उतना किया जायगा, क्योंकि धन के ही कारण बिना सेवा के व्यक्ति कुछ कमाये यह समाज के मौलिक अर्थ व्यवस्था के प्रतिकूल है।

समाज की मौलिक अर्थ व्यवस्था यह है कि व्यक्ति सेवा दे, बदले में सेवा लें, और सेवा के आदान प्रदान के चक्र का गतिरोध न करे। गतिरोध रोकने तथा मौलिक अर्थ व्यवस्था को कायम रखने के लिये समाज को नई अर्थ व्यवस्था बनाने का अधिकार है ।

४—अर्जिताधिकार— समाज मान्य अर्थ व्यवस्था केअनुसार जिन लोगों ने उस व्यवस्था की मर्यादा के भीतर रह कर सम्पत्ती पैदा कर ली है, उन्हें उस सम्पत्ति पर पूरा अधिकार है । हां! अगर उस व्यवस्था से समाज के सब लोगों को उचित हिस्सा मिलने में बाधा पड़ रही है तो आगे के लिये उस व्यवस्था को बदला जा सकता है, पर पहले जिसने उस व्यवस्था से जो सम्पत्ति कमा ली है वह नहीं छीनी जा सकती ।

अगर किसी खास तरह की सम्पत्ति समाजीकरण के लिये जरूरी हो तो वह उचित मुआवजा देकर ही ली जा सकती है।

हां! पुरानी व्यवस्था के अनुसार जिनको जो अधिकार पद आदि मिले ह और उन पद अधिकार के कारण जिनको जो धन मिलता हैं उसके रक्षण की जिम्मेदारी समाज नहीं ले सकता। राजा रखना या न रखना जमीन के प्रबन्ध के लिये जमींदार पटेल आदि रखना या न रखना यह समाज की इच्छा की बात हैं। बिना मुआवजा के भी ये अधिकार लिये जा सकते हैं या दूसरे को दिये जा सकते हैं। इन अधि-कारों के जाने पर इनके कारण जो धन मिलता है वह भी बन्द हो जायगा! हां व्यक्तिगत रूप में जो धन पहिले मिल चुका वह छीना नहीं जा सकता।

यहां यह बात भी ध्यान में रखना चाहिये कि जरूरत होने पर आर्थिक व्यवस्था बदली जा सकती है, उचित आर्थिक व्यवस्था लाने के लिये उसके मार्ग में बाधा डालनेवालों के साथ निरुपाय होनें पर युद्ध घोषणा तक की जा सकती हैं पर चोरी ठगी डकैती आदि का अधिकार किसी को नहीं मिल सकता, अर्थात् व्यक्ति ऐसे काम करे तो वह दंड-नीय होगा। वर्तमान अर्थ व्यवस्था को अनुचित कहकर कोई उन बातों के करने का अधिकार नहीं रख सकता। वह अर्थ व्यवस्था बदलने का प्रयत्न ही कर सकता है।

इस नियम का कारण यह है कि आज कल धनिक को लूटने आदि की बात की जाती है जब कि वह निरपराध है। वह पुरानी अर्थ-व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम है इसलिये इसमें उसका कोई कसूर नहीं, तब उसे दंड क्यों दिया जाय ? जो आदमी लूटने की बात करते हैं वे धनिक नहीं बनना चाहते, या इसके लिये उनने कोशिश नहीं की, सो बात नहीं हैं। कोशिश सबने की है। पर किसी कारण कोई सफल हो गया, किसी कारण कोई निष्फल रहा, जो निष्फल रहा वह ईमान-दार था ऐसा नहीं कह सकते। बस चोर चोरी करनें जायं और जब

चोरी में सफल न हो जायं तो इसीसे वे ईमानदार न हो जायंगे। इस-लिये गरीबी के कारण किसी को निरपराव या ईमानदार और अमीरी के कारण किसी को अपराधी या बेईमान नहीं कह सकते।

जन्म से जो धनवान हो गये उनका भी कोई अपराध नहीं। पिता-माता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारीत्व पुत्र को मिलें यह पुरानी अर्थ-व्यवस्था थी,इसमें जन्म से धनिक बनने वालों का क्या कसूर?

हां! किसीने धन कमाने के लिये गैर कानूनी या अन्यायी कार्रवाई की हो तो उस पर कानूनी कार्रवाई पीछे से भी की जा सकती है। और आगे के लिये ऐसी अर्थ व्यवस्था बनाई जा सकती है जिससे इनकी विषमता न बढ़ें। पर पुरानी अर्थ व्यवस्था में सफल होनेवाले को दंड नहीं दिया जा सकता।

५—वैयक्तिक स्वतंत्रता–व्यक्ति को समाज के हित का ध्यान रखना चाहिये, पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कम से कम अंकुश रखने का ध्यान समाज को भी रखना चाहिये। रोटी के लिये मनुष्य को मशीन का पुर्जा नहीं बनाया जा सकता! तब व्यक्तियों के हितों का समन्वय करना ही सामाजिकता है, और व्यक्तियों के हित में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का भी काफी स्थान है। मतलब यह कि अर्थव्यवस्था में न तो व्यक्ति को बिलकुल उच्छृंखल बनने दिया जा सकता है न बिलकुल गुलाम। व्यक्ति को रोटी पाने के साथ उचित मर्यादित, फिर भी अधिक से अधिक स्वतंत्र रहनें का अधिकार है।

इन पांच नियमों को सामाजिक अर्थ–व्यवस्था का शाश्वत सत्य कहा जा सकता है। सबसे बड़ा शाश्वतसत्य सामूहिकरूपसे सुख समृद्धि है।

कुछ लोग शाश्वत सत्य के नाम पर ऐसी बातें कहा करते हैं जो बेबुनियाद हैं और जिनके तर्क झूठे हैं। जैसे:—

हमनें पूर्व जन्म में पुण्य किया था इससे इस जन्म में राजा बनें, जमींदार बने, धनिक पुत्र बने, अब इसका फल भोगनें वाले तुम कौन ?

ये तर्क झूठे और बेबुनियाद हैं। क्योंकि—

१:— कोई भी अर्थ-व्यवस्था और उसका संचालक समाज किसी के परलोक का हिसाब किताब नहीं रख सकता, न समाज या राज्य के पास परलोक का हिसाब किताब रखने की कोई बही होती है। इसलिये इस प्रकार के दावा का कोई अर्थ नहीं, कोई प्रमाण नहीं।

२:— महर्षि मार्क्स ने तथा अन्य विचारकों ने तो परलोक का अस्तित्व ही अस्वीकार कर दिया है इसलिये इसके हिसाब का सवाल भी नहीं उठता। पर मान भी लिया जाय कि परलोक है और उसके पुण्य पाप का प्रभाव दूसरे जन्म में भी दिखाई देता है तो उसके नाम पर अर्थ व्यवस्थाओं के परिवर्तन को रोका नहीं जा सकता। क्योंकि अनेक लोग जन्म से राजा बननें पर भी राज्य भ्रष्ट हो जाते हैं, जन्म से धन वान होनें पर भी पीछे से कंगाल हो जाते हैं, स्वस्थ होकर भी बीमारी के शिकार हो जाते हैं। पूर्णांग होनें पर भी विकलांग हो जाते हैं। यहां इसका कारण यही कहा जाता है कि जब तक उनका पुण्य रहा तब तक उनने फल चखा जब पुण्य समाप्त हो गया तब उनकी दुर्दशा हो गयी। जीवन के बीच में भी पुण्य समाप्त हो सकता है।

इसी तरह समझना चाहिये कि क्रांति के अवसर पर राजा आदि का पुण्य समाप्त हो गया था इसलिये क्रांति हुई।

३:— पूर्वजन्म के पुण्य पाप का फल देना ईश्वर या प्रकृति के हाथ में है। ईश्वर या प्रकृति अपना काम करेंगे ही, अगर उसका एक द्वार बन्द हो जायगा तो ईश्वर दूसरे द्वार से उसका फल देगा। ऐसी हालत में सबकी भलाई के लिये की जाने वाली आर्थिक व्यवस्था में अड़चन क्यों डालना चाहिये। ईश्वर पर विश्वास है तो इस बात पर भी विश्वास रखना चाहिये कि पूर्वपुण्य उसके राज्य में व्यर्थ नहीं जायगा। आज नहीं तो कल, इस रूप में नहीं तो उस रूप में उसका फल ईश्वर देगा। तब क्रांति से घबरानें की बात क्या है? उसका विरोध भी क्यों हो?

४—– कार्य कारण भाव का विचार करनें पर यह समझ में नहीं आता कि हमारे आत्मा के साथ चिपका हुआ पुण्य समाज की अर्थ-व्यवस्थाओं पर प्रभाव किस माध्यम से डाल सकता है ? आत्मा के साथ चिपका हुआ पुण्य कदाचित-शरीर को सुन्दर स्वस्थ और टिकाऊ बना सकता है। प्रतिभा बुद्धि विवेक चतुरता के बीज दे सकता है जिनके जरिये हम दुनियां में बहुमूल्य कर्त्तव्य कर सकें। इसलिये हमें आज के गुणों को या जन्म की परिस्थितियों को ही पुण्य-पाप का फल मानना चाहिये। संसार या समाज की रचना से उसका कोई ताल्लुक नहीं।

इसलिये शाश्वत सत्य के नाम पर जो ऐसी दुहाइयां दी जाती हैं वे निःसार हैं। चाहे परलोक या ईश्वर मानो चाहे न मानो। उनका खंडन करनें के लिये ईश्वरवाद आत्मवाद के खंडन की जरूरत नहीं है। वैज्ञानिक तथ्य की द्रष्टि से कैसी भी विवेचना की जा सकती है पर क्रांति पथ के रोड़े हटाने के लिये ईश्वर या परलोक हटाना अनिवार्य नहीं है। क्योंकि इनके सहारे जो शाश्वत सत्य की दुहाई दी जाती है वह बिलकुल बेबुनयाद है।

अब हम इस बात पर विचार करें कि आज तक जो अर्थ क्रांतियां हुई हैं उनमें इन पांच शाश्वत सत्यों का कहां तक पालन हुआ है या भंग हुआ है। इसी कसौटी के आधार पर हम पुरानी या नई क्रांतियों की उचितता या अनुचितता समझ सकेंगे। पुरानी क्रांतियां जो हो गईं सो हो गईं ; पर आगे जो क्रांतियां होने वाली हैं या होने की तैयारी में हैं उनकी अनुचितता दूर करने का विवेक हमें रखना ही चाहिये।

—*—

वन्ययुग—

सबसे पुरानी अर्थव्यवस्था वन्य युग की है जिसे कोई-कोई लोग आद्य साम्यवाद या कम्युनिज्म कहते हैं। पर यह नाम बहुत ही स्थूल समानता के आधार से दिया गया है, यों साम्यवाद (कम्युनिज़्म) में और उस आद्य साम्यवाद में जमीन आसमान का अन्तर है। आद्य साम्यवाद को अविकासका किनारा कह सकते हैं जब कि भविष्य साम्य-वाद को विकास का किनारा। इसलिये उस प्राचीन साम्यवादी युग को वन्ययुग ही कहना चाहिये। उस वन्ययुगको खास खास बातें ये थीं।

१—सब लोग मिलजुल कर एक घर बनाकर रहते थे। विवाह की प्रथा नहीं थी। पशुओं सरीखा नरमादा व्यवहार था।

२—अकेला आदमी न ठीक ढंग से जीविका कमा सकता था न जीवन रक्षा कर सकता था। जंगली जानवर बहुत थे और मनुष्य के पास शस्त्र अस्त्र नहीं के बराबर। इसलिये मिलजुल कर सब मिहनत करते थे और मिलजुल कर खा लेते थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी इसलिये शोषण भी नहीं था।

३—यह मिला जुला कुटुम्ब ही उस समय का सारा समाज था और इतना सा ही राष्ट्र। दूसरे कुटुम्बों से कोई आदान प्रदान या विवाह सम्बन्ध आदि नहीं था। हां! जीविका के प्राकृतिक साधन क्षत्रों पर अधिकार करने के लिये इन कुटुम्बों में युद्ध हो जाते थे। युद्ध में जो लोग हार कर पकड़े जाते थें उन्हें जीतनेंवाले लोग मारकर खा जाते थे। क्योंकि हारें हुए लोगों को पास रखनें से कोई लाभ न था। बल्कि धोखा खानें का जोखम ही था जो बिना लाभ की आशा के नहीं उठाया जा सकता था।

४—उस समय व्यक्ति का कोई पृथक अधिकार, स्वामित्व या सम्बंध नहीं था। यहां तक कि किसी कुटुम्ब का एक आदमी दूसरे कुटुंब के आदमी की हत्या कर दे तो दूसरे कुटुम्ब का कोई आदमी

पहिले कुटुम्ब के किसी भी आदमी को मारकर बदला ले सकता था। व्यक्तियों के हृदय और अनुभूतियां तो अलग अलग थीं पर उन्हें सफल होने की कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं थी।

५—उस समय औजार ज्यादातर पत्थर के थे। झोपड़ियां ही भवन थ। जंगली फल और शिकार ही जीविका थी। खेती करने का ज्ञान नहीं था। इसलिय स्थायी निवास नहीं बना पाते थे। चरागाहों और शिकारगाहों के खोज में घूमते रहते थे।

६—कुटुम्ब का एक मालिक होता था जो या तो बड़ी मां होती थी या बड़ा बाप। वही सब का गुरु, वही सब का पितर, वही सबका मालिक और वही सबका शासक होता था।

७—उस समय स्त्री पुरुष का थोड़ा सा कार्य भेद छोड़ कर और कोई विशेष कार्य विभाग नहीं था। उस समय कृषिकलाकौशल आदि का कोई विकास नहीं हुआ था कि अलग अलग कार्यों में चतुरता पैदा करने के लिये अलग अलग लोग नियुक्त किये जायं। शिकार और युद्ध दोही मुख्य कार्य थें जो हर आदमी को करना पड़ते थें।

प्राणीशास्त्र में सबसे पहिले कें एक प्राणी का उल्लेख किया जाता है जिसे अमोबा (Amo-ba कहते हैं। यह जीवन के प्रारम्भ का सबसे पहला प्राणी है। इसके अंगोपांग नहीं होते कुल एक ही सेल (Cell) होता है। यह गोल होता है। सारे शरीर से यह खाता है। और छोड़ता है। न इसक पास अलग-अलग तरीके कें बहुत से काम होते हैं न काम करने क लिय कोई अंग। प्राणी रचना में जो अमोबा का स्थान है वही स्थान समाज रचना में वन्ययुग के कबीलों का है।

धीरे धीरे जब प्राणी का विकास होता है तब अलग अलग कामों कें लियें अलग अलग अंग हो जाते हैं।

समाज जब विकसित हो जाता है तब उसमें भिन्न भिन्न कार्यो के लियें भिन्न भिन्न व्यक्ति हो जाते हैं और वे कार्य कार्यो विकसित तरीके से होने लगते हैं।

पहिले जो अर्थरचना के पांच सिद्धांत बतलाये गये वे वन्य युग की अवस्था में पूरी तौर पर विकसित भी नहीं होते कि उनका विचार किया जाय।

१—पहिला सिद्धांत पलता है जरूर, पर काफी कही जा सकनेवाली जीवन सामग्री नहीं मिलती। उस समयकी आर्थिक रचना इतनी विकसित ही नहीं होती की कोई बेकार बना सके या बेकार बनकर जिंदा रह सके। इसलिये बेकारी की बात का कोई सवाल ही नहीं होता।

२—अधिक उत्पादन और कम श्रम की दृष्टि से भी उस समय गई बिती हालत रहती है। सच पूछा जाय तो उस समय उत्पादन का प्रारम्भ ही नहीं होता। उत्पादन का काम जितना प्रकृति कर देती है उसे ही ढूंढकर या मारकर खाने का काम रहता है।

३—व्यक्तिगत सम्पत्ति भी नहीं होती, न होने से उसके आदान प्रदान, संग्रह, अर्थचक्र भ्रमण का सवाल भी नहीं उठता।

४—व्यक्तिगत सम्पत्ति होती ही नहीं है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का विचार किया जाय।

५—व्यक्ति की स्वतन्त्रता वहां होती ही नहीं है।

इस प्रकार यह वन्ययुग इन पांच सिद्धांतों की दृष्टि से बिलकुल हीनतम अवस्था में होता है।
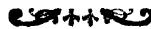
दासयुग—

वन्ययुग के बाद दासयुग आता है। यह वन्ययुग से विकसित है। इसमें निम्न लिखित व्यवस्था विशेषताएं पैदा हो जाती हैं।

१—औजारों के विकास हो जाने से कृषि आदि का प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार उत्पादन का प्रारम्भ हो जाता है।

२—खेती की आय कुछ दिन सुरक्षित रह सकती है इसलिये कुछ निश्चिन्तता पैदा हो जाती है।

३—खेती के कारण एक जगह बसने का सुभीता हो ही जाता है इससे बारह माह मारा-मारा नहीं फिरना पड़ता।

४—जो लोग लड़ाई में पकड़ लिये जाते है उन्हें मारा नहीं जाता, किंतु दास बनाकर कार्य के लिये जिंदा रखा जाता है। इस तरह जान जाने के अवसर कुछ कम आने लगते है।

५—दास जान बचने से लाभ म रहता है और मालिक दास की मिहनत का फल पाकर आराम में रहता है।

६—व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रवेश हो जाता है। इसलिये हर एक व्यक्ति में मालिकपन का आनन्द बढ जाता है।

७—बहुत से व्यक्ति स्वतन्त्रता का अधिकार पा जाते हैं। एक तरह की घरू स्वतन्त्रता उन्हें मिल जाती है।

८—विवाह संस्था को कुछ-कुछ रूप आने लगता है इस प्रकार दाम्पत्य का सहयोग और आनन्द बढ़ने लगता है।

९—दूसरें कबीलों से सम्बन्ध आ जाने से व्यापार भी शुरू हुआ इससे जीवन में भिन्न भिन्न सामग्रीयां प्राप्त होने लगीं।

इस प्रकार दासयुग वन्ययुग से आगे बढ़ा हुआ है विकसित हैं। इसमें पहले बताये हुए शाश्वत सत्यों की मात्रा कुछ अधिक होती है।

१—यद्यपि इस अवस्था में काफी शोषण होता है पर मौत की अपेक्षा जीवन मिलने लगता हैं। आदमी मारकर खा नहीं लिया जाता है पर जीवन योग्य सामग्री देकर उसे जिंदा रखा जाता है काम भी सभी को मिलता ही है।

२—औजारों के विकास कृषि आदि में जीवन सामग्री अधिक मिलने लगती हैं।

३—सेवा का आदान प्रदान बाहर के भागों म होने लगता है।

४—व्यक्तिगत सम्पत्ति का रिवाज पड़ जाने से कुछ लोगों को आर्थिक स्वतन्त्रता मिलने लगती है। यद्यपि अधिकांश लोग जो दास होते हैं इस स्वतन्त्रता से वंचित रहते हैं फिर भी कुछ लोग स्वतंत्र हो जाते हैं।

५—व्यक्तिगत स्वतंत्रता के नियमों का निर्माण होने लगता है

इस प्रकार दासयुग वन्ययुग की अपेक्षा अधिक विकसित होता है।

---*---

सामन्तयुग—

दासयुग के बाद सामन्तयुग आता है। सामन्तयुग में निम्नलिखित विशेषतायें आ जाती हैं—

१— औजारों का विकास होने से उत्पादन बढता है, कृषि, शिल्प, गृहोद्योग खूब बढ जाते हैं।

२— विकसित औजारों के लिये चतुर कारीगरों की जरूरत होती है जो हर कार्य में पहल कदमी दिखा सकें।

३— अमुक संख्या में दास बनें रहने पर भी काफी संख्या में स्व-तंत्र कृषकों की सृष्टि होती है। दास चतुरता से और उत्साह से काम नहीं करते इसलिये दासों की अपेक्षा स्वतंत्र मजदूर ज्यादा फायदे के मालूम होने लगते हैं। दास ज्यादातर घर के छोटे छोटे कामों के लिये रह जाते हैं।

४— समाज में वर्ग पैदा हो जाते हैं।

५— सामन्त सिर्फ जमीन का अधिकारी रह जाता है। कारीगरों के औजार मजदूरों के ही होते हैं। जमीन की मालिकी पर भी उसकी मर्यादित सत्ता रह जाती है। कृषक भी अपनें हिस्से की जमीन का

पूरा नहीं तो आधा मालिक हो जाता है। अमुक कर चुकाता रहे तो जमीन पर कृषक का ही अधिकार माना जाता है।

६— स्वतंत्र मजदूरों के विशाल उद्योगों से इतना निर्माण होने लगता है कि उनके आदान-प्रदान के लिये व्यापार खूब बढ़ जाता है। यहां तक कि एक व्यापारी वर्ग तैयार हो जाता है।

पहले जो शाश्वत सत्य बताये गये हैं उनकी दृष्टि से सामन्तयुग दासयुग की अपेक्षा काफी विकसित है।

१— हर एक व्यक्ति को श्रम के अनुसार अधिक मिलने लगता हैं और काम बढ़ जाने से काम भी मिलने लगता है।

२— औजारों के विकास से कम श्रम में अधिक उत्पादन दास-युग की अपेक्षा काफी बढ़ जाता है।

३— व्यापार का विकास होने से आदान-प्रदान खूब बढ़ता है। यद्यपि संग्रह करने की गुंजाइश भी बढ़ जाती है पर सेवाका आदान-प्रदान दासयुग की अपेक्षा काफी अधिक हो जाता है।

४— सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता काफी बढ़ जाती है। पहले दासवर्ग बिलकुल स्वतंत्र नहीं था। अब दासों की अपेक्षा कृषक मजदूर काफी बढ़ जाते हैं जिन्हें अपनी कमाई हुयी सम्पत्ति पर अधिकार रहता है।

५— नागरिकता के अधिकारों की सृष्टि होती है। उनके आधार पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता काफी बढ़ जाती है।

इस प्रकार सामन्तयुग दासयुग से अधिक विकसित होता है और सामूहिक रूप में जनता पहले से अधिक सुखी हो जाती है।

—●—

पूंजीवादीयुग:—

सामन्तवादीयुग में छोटे छोटे यन्त्र थे पर जब बड़े २ यन्त्रों का उदय हुआ वाष्प यन्त्रों का आविष्कार हुआ तब उत्पादन की गति

बहुत तीव्र हुई। ऐसे बड़े बड़े यन्त्रों का संचालन एक मजदूर के या एक कुटुम्ब के वश की बात नहीं थी बहुत से आदमी मिलजुलकर यह कार्य कर सकते थे। इस प्रकार मजदूर लोग कारखानों में जानें लगे और कारखाने का मालिक वह बना जिसकी पूंजी उसमें लगी थी। इस तरह यह पूंजीवादी युग बना। इसकी विशेषतायें ये हैं।

१— सामन्तवादी युग की अपेक्षा पूंजीवादी युग का उत्पादन अनेक गुणा बढ जाता है।

२— मजदूरों की विशेषज्ञता बढ़ जाती है वह सिर्फ हस्तकौशल तक ही सीमित नहीं रहती पेंचीदा मशीनों की जानकारी और कुशलता तक पहुंचती है।

३— मजदूर वर्ग पूंजी, लगान और माल के खपानें की जिम्मेदारी से मुक्त हो जाता है।

४— घर में स्वतंत्रता से काम करनें का आनन्द घट जाता है पर उसके बदले में निश्चिन्तता की शांति बढ़ जाती है।

५— इस युग में विषमता भी काफी बढती है परन्तु राष्ट्र का सामूहिक आर्थिक विकास इतना बढ़ जाता है कि भोग उपभोग के जो साधन सामन्तवादी युग में बडे बड़े सामन्तों को न मिल पाते थे वे इस युग में साधारण जन को मिलनें लगते हैं। सामन्तवादी युग में रथों, बैलगाड़ियों या घोड़ागाड़ियोंमें सामन्त लोग जितनी और जितनें आराम से सफर कर सकते थे पूंजीवादी युग में उससे अधिक और उससे ज्यादा आराम से साधारण मजदूर भी रेलगाडी और मोटर में सफर करनें लगता है। और भी उपभोग सामग्रियों का यही हाल होता है।

शाश्वत नियमों की द्रष्टि से सामन्तवादी युग की अपेक्षा पूंजीवादी युग काफी विकसित है।

१— जीवन सामग्री तथा श्रम का बदला अधिक मिलने लगता है। पर कुछ लोगों को बेकारी का सामना करना पड़ता है।

२— श्रम घट जाता है और जीवन सामग्री बढ़ जाती है।

३— व्यापार खूब बढ़ जाने से अर्थचक्र भ्रमण खूब होनें लगता है सेवा के आदान प्रदान में काफी वृद्धि होती है।

४— व्यक्ति की आर्थिक मालिकी अधिक स्थिर हो जाती है। साम्न्तवादी युग में सामन्त के विशेष अधिकारों के कारण जनता कभी कभी लुट जाती हैं। पर पूंजीवादी युग में जनता के अधिकार बढ़ जाते हैं। इसलिये मालिकी की स्थिरता बढ़ जाती है।

५— व्यक्तिगत स्वतंत्रता काफी बढ़ जाती है जनतंत्र का प्रवेश होनें से हर एक नागरिक के अधिकार प्रायः समान हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं वन्ययुग की अपेक्षा पूंजीवादी युग तक मनुष्य का विकास ही होता जाता है। हां, यह स्वाभाविक है कि जब व्यक्ति स्वतंत्र होगा तब उसकी जिम्मेदारी भी बढ़ेगी और उसके विषय में दूसरों की जिम्मेदारी घट जायगी। पूंजीवादी युग स्वतंत्रता करीब करीब पराकाष्ठा पर पहुंच जाती हैं इसलिये उसके विषय में दूसरों की जिम्मेदारी घट जाती है।

ऐसी हालत में ऐसा सम्भव हो जाता है कि कुछ व्यक्ति बेकार हों। चूंकि पूंजीवादी युग में स्वतंत्रता चरमसीमा पर पहुंचती है इसलिये बेकारी भी काफी या पिछली अर्थव्यवस्थाओं से सबसे अधिक होती है। फिर भी टोटल मिलानें पर समाज पिछले सभी आर्थिक युगों से अधिक विकसित होता है।

अभी तक जो आर्थिक युगों का विकास हुआ उनका मुख्य कारण औजारों का विकास था। पर पूंजीवाद के बाद समाजवाद आने का मुख्य कारण औजारों का विकास नहीं है। पूंजीवाद में औजारों का जितना विकास हो जाता है उससे अधिक विकसित औजार न आवें तो भी समाजवाद आयेगा। पहली क्रांतियां बेकारी न होनें पर भी औजारों के विकास के कारण हुयी थीं पर समाजवादी क्रांति औजारों का विकास न होनें पर भी बेकारी के कारण होती है। यद्यपि औजारों का विकास प्रतिदिन होता ही जाता है पर यह क्रांति का कारण नहीं है।

क्रांति का मुख्य कारण पांच शास्वत सत्यों में से पहिला है —अर्थात् बेकारी को दूर करना--और सबको जीवन सामग्री पाने की सुविधा पैदा करना। इस प्रकार हम देखते हैं कि वन्ययुगों से पून्जीवाद तक क्रांतिकी जो दिशा थी उससे आगे अब क्रांति की दिशा बदलती है।

१—पहिली क्रांतियों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता उत्तरोत्तर बढ़ती थी पर पून्जीवाद के बाद समाजवादी क्रांति में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कुछ घटने लगती है।

२—वन्ययुग से पून्जीवादी युग तक क्रांतिका मुख्य कारण औजारों का विकास था पर पून्जीवादी युग के बाद समाजवादी युग की तरफ बढ़ने का मुख्य कारण औजारों का विकास नहीं है। अगर औजारों का विकास रुक जाय तो भी क्रांति की जरूरत रहेगी ही।

३—अगर औजारों का विकास न होता तो आर्थिक सम्बन्धों की दृष्टि से पुराने युग स्थिर रह सकते थे पर पून्जीवाद ऐसी हालत में स्थिर नहीं रह सकता। मतलब यह कि महर्षि मार्क्स की द्वंद्वात्मकताका सिद्धांत पून्जीवादी युग में ही स्पष्ट होता है।

---*---

समाजवादी युग—

पूंजीवादी युग में बेकारी की जो जटिल समस्या उत्पन्न हो जाती है। और उससे जो उत्पादन की क्षमता रखते हुयें भी उत्पादन घटने लगता है, और अधिकांश लोग अपेक्षाकृत गरीब होने लगते हैं इसके लिये समाजवादी अर्थ प्रणाली का प्रवेश होता है। इसमें बेकारी नहीं रहती—शोषण रुकता है। पांच शास्वत नियमों की दृष्टि से पून्जीवादी युग से इस युग में जो अन्तर पड़ता है वह यह है।

१—बेकारी नहीं रहती। काम का प्राय: पूरा बदला मिलने लगता है। शोषण बहुत कुछ समाप्त हो जाता है। पून्जीवाद से समाजवाद इस दिशा में काफी विकसित है।

२—कमसे कम श्रम और अधिक से अधिक सामग्री उत्पन्न करने की बात पून्जीवादी युग सरीखी रहती है। पून्जीवादी युग में यंत्रों का जैसा विकास हो सकता है वैसा इस युग में भी हो सकता है।

३—सेवा का आदान, प्रदान, अर्थचक्र भ्रमण इस युग में पून्जीवाद की अपेक्षा काफी अधिक होता है बेकारी न होने से लोगों की क्रय-शक्ति बढ़ी रहती है।

व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता कुछ घट जाती है उस पर पून्जीवाद की अपेक्षा काफी नियन्त्रण आ जाती है। अर्जिताधिकार कुछ घट जाता है इस दृष्टि से विकास नहीं कहा जा सकता बल्कि कुछ कमी ही कही जा सकती है।

हर एक अर्थव्यवस्था म व्यक्ति और समाज के हितों का समन्वय करना पड़ता है पर पून्जीवादी युग में व्यक्ति समाज पर हावी था। समाजवादी युग में समाज व्यक्ति पर हावी हो जाता है वन्ययुग में भी समाज व्यक्ति पर हावी था। इसलिये समाज व्यक्ति पर हावी हो यह विकास की बात नहीं कही जा सकती और पून्जीवाद की तरह व्यक्ति का समाज पर हावी होना भी सब के कल्याण की दृष्टि से ठीक नहीं। इससे यही कहा जा सकता है कि एक खराबी की जगह दूसरी खराबी आती है। हाला कि व्यक्ति के हावी होने की अपेक्षा समाज का हावी होना कम खराब है। इस दृष्टि से समाजवाद कुछ ठीक ही कहा जायगा परन्तु दोनों के बीच की अवस्था अधिक उपयोगी होगी। जिसमें दोनों का समन्वय हो।

इस प्रकार टोटल मिलने पर पून्जीवादकी अपेक्षा समाजवाद विकसित है हालां कि कुछ बातों में अविकासित भी है इसलिये जरूरत मालूम होती है कि उन बातों में भी विकसित किया जाय इसके लिये पून्जीवाद और समाजवाद के गुणों को मिलाने की जरूरत है।

अन्यवाद—

वन्ययुग से लेकर समाजवादी युग तक के पांच युग प्रयोग में आ चुके हैं। समाजवाद और पून्जीवादमें कुछ संघर्ष चल रहा है। ऐसे लोग भी हैं जो इन दोनोंसे खुश नहीं हैं। इसके सिवाय समाजवाद से अगली मंजिलों की कल्पना भी है। इसलिये हमारे सामनें विचार के लिये चार वाद और भी हैं। १ ग्राम्यवाद, २ निरतिवाद, ३ साम्यवाद, अराज्यवाद।

ग्राम्यवाद—

इसकी विशेषतायें ये हैं—

१—बड़ी बड़ी मशीनें जिसको मजदूर घरमें बठकर काम में नहीं ला सकता बन्द कर दी जायं। जैसे कपड़े की मिल वगैरह।

२—अधिक श्रम से कम उत्पादन करके जनसंख्या को काम दिया जाय इस प्रकार बेकारी घटायी जाय।

३—आर्थिक दृष्टि से समाज छोटी छोटी से छोटी इकाइयों में बंट जाय। अधिकांश बातों में कुटुम्ब स्वयंपूर्ण हो। बड़ी से बड़ी इकाई ग्राम हो। ग्रामजीवन की सारी आवश्यकताएं पूरी कर लिया कर।

मनुष्य को इस आदर्श की तरफ बढ़ना चाहिये कि जिन चीजों का वह उपभोग करता है उनका उत्पादनभी वह स्वयंकरे। जैसे जो पहने—वह काते—और जो काते वह पहने—दूसरों के उत्पादन के भरोसे रहना पराधीनता है और "पराधीन सपनेहु सुख नाही."

५—शोषण का अन्त कर दिया जाय पर वह समाजवाद के जरिये नहीं, किंतु ऐसे व्यक्तिवाद के जरिये जिसमें प्रत्येक कुटुम्ब स्वयंपूर्ण है इसलिये उसका कोई शोषण नहीं कर सकता।

६---आर्थिक क्षेत्र में जो भी परिवर्तन किये जायं वे कानून के बल पर नहीं किंतु हृदय परिवर्तन के बल पर। कानून में जबर्दस्ती है इसलिये हिंसा है और क्रांति में किसी तरह की हिंसा नहीं सहन की जा सकती।

ग्राम्यवाद मनुष्य को समाजवादी युग से पीछे की ओर ढकेलकर एक तरह से सामन्तवादी युग में ले जाना चाहता है। मनुष्य इस तरह प्रगति के साधनों को धता बता देगा---यह सोचना ही पागलपन है, क्योंकि न तो स्वार्थ की दृष्टि से मनुष्य ऐसी मूर्खता कर सकता है, न परमार्थ की दृष्टि से ऐसी मूर्खता कर सकता है। इस प्रकार यह मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से असंभव है।

यह समाजवाद और पून्जीवाद दोनों के विरुद्ध है और दोनों का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता। हां समाजवाद के विरुद्ध प्रचार के लिये पून्जीवादी लोग इसे मदद करते हैं। पून्जीवादी लोग यह अच्छी तरह जानते हैं कि पून्जीवाद का यह बाल बांका नहीं कर सकता। इसलिये समाजवाद के विरुद्ध लोकमत बनाने के लिये ग्राम्यवादियों का उपयोग कर लिया जाय तो अच्छा। हालां कि यह भी आत्मवंचना है। इस प्रकार ग्राम्यवाद बिल्कुल व्यर्थ असंभव तथा प्रतिक्रियावादी स्वरूप है। अगर किसी तरह यह असंभव भी सम्भव हो जाय तो इस वाद से इतनी हानियां होंगी।

१---बड़ी मशीनों के अभाव में उत्पादन बहुत घट जायगा इस प्रकार सामूहिक रूप में देश गरीब हो जायगा।

२---अधिक श्रमसे कम उत्पादन करने पर भी देश में बेकारी नष्ट न होगी। क्योंकि बेकारी का कारण काम का अभाव नहीं है किंतु लोगों को काम में लगाने की राष्ट्रव्यापी सामूहिक योजना का अभाव है। व्यक्तिवाद में हर एक आदमी अपनी अपनी जीविका का विचार करता है इसलिये कामकाज के आदान प्रदान में जिनको काम नहीं मिल पाता उनकी चिंता दूसरों को नहीं होती है यदि होती भी है तो

दूसरे व्यक्ति दान ही कर सकते हैं सामूहिक योजना नहीं बना सकते जिससे सब को काम मिल सकें ।

ग्राम्यवाद में व्यक्तिवाद काफी तीव्र हो जाता है पून्जीवाद से भी तीव्र हो जाता हैं । इसलियें उसमें काम की गति धीमीं कर देने पर भी बेकारी काफी बढ़ जाती है ।

३—समाज जब छोटी इकाइयों में बंट जाता है तब उस में परस्पर निर्भरता नष्ट हो जाती है इस कारण उसमें संकुचितता आ जाती हैं । एक गांव से दूसरे गांव की आर्थिक स्थिति जब बिलकुल निरपेक्ष हो जाती है तब यह निरपेक्षता दूसरे के सुख दुःख में भी हो जाती है । पुराने भारत में देश के किसी भाग पर जब आक्रमण होता था तब दूसरे भाग शान्त बैठे रहते थे इसका मुख्य कारण यही था । ग्राम अपनें में बहुत कुछ पूर्ण थे उन्हें दूसरों से कुछ मतलब नहीं होता था । इस प्रकार छोटी छोटी आर्थिक इकाइयों में बंटे हुये भारत में सामूहिक चेतना या राष्ट्रीय चेतना का अभाव था । ग्राम्यवाद से भी वह क्षुद्रता संकुचितता अनुदारता फिर आयगी । आज जब कि सभी दुनियांका एक राष्ट्र बनानें की जरूरत है तब ग्राम्यवाद से आजकी संकुचितता बढ़ेगी ।

४—हर मनुष्य अपना सारा काम करनें लगे तो मनुष्य किसी विषय में काफी मात्रा में चतुर न हो सकेगा । इसका फल यह होगा कि अधिक सामग्री से कम और खराब काम होगा । अगर देश की सब रुई चर्खे से काती जाय तो कपड़े का उत्पादन आधा रह जाय और वह भी खराब । इसी तरह अन्य उद्योगों की भी दुर्दशा होगी । यह कंगालियत को निमंत्रण देना है ।

५—आदमी के सिर पर श्रम का भार तो बढ़ ही जायगा साथ ही तरह तरह के कार्योंकी चिंता भी बढ़ जायगी । क्या क्या करे क्या क्या न करें इस प्रकार की घबराहट भी बढ़ जायगी । इस प्रकार शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टि से उसका जीवन दुःखी हो जायगा । शौक से श्रम करना कष्ट कर नहीं होता किंतु विवशता से अधिक श्रम करना

पड़े तब उसमें आनन्द नहीं रहता। ग्राम्यवादी नेता जो श्रम का प्रदर्शन कर दिया करते हैं उसका कारण यह है कि यह कार्य उन्हे विवशता से नहीं करना पड़ता। खाने पीनें आदि के लिये चन्दे की थैलियों से काम चल जाता है।

तपस्वी आदि कहलाने के लिये भी लोग श्रम कर जाते हैं पर जब ग्राम्यवाद त्याग तप सेवा नेतृत्व का प्रतीक नहीं किंतु रोटी की विवशता बन जाता है, गौरव आदि की भावनायें उड़ जाती हैं और इसके लिये पून्जीवादियों से चन्दा मिलना भी बन्द हो जाता है तब शारीरिक और मानसिक कष्ट ही पल्ले पड़ते हैं।

ग्राम्यवाद की भावुकता तभीतक सवार रह सकती हैं जबतक वह सारे समाज में, व्यवहार में, नहीं आया और उसके नाम पर चन्दा मिलता जाता है। अगर दुर्भाग्य से ग्राम्यवादी आर्थिक योजना देशव्यापी हो जाय तब तुरन्त ही ग्राम्यवाद को नष्ट करने के काममें सबके सब लग जायेंगे।

६--ग्राम्यवाद शोषण को बंद नहीं कर सकता क्योंकि जहां तीव्र व्यक्तिवाद है वहां शोषण पैदा हो ही जाता है। दासयुग और सामन्तवादी युग में ग्राम्यवाद ही था पर शोषण काफी था। हां यह जरूर है कि दिखनें में शोषण की मात्रा कम हो जायगी पर उसकी कष्टकरता बढ़ जायगी। सेर भर रोटी में से पावभर रोटी कोई ले जाय तो कष्ट होगा पर पावभर रोटी में से छटाक भर भी रोटी ले जाय तो और भी कष्ट होगा।

सेरभर में से पावभर छिनना जितना सहन किया जा सकता है पावभर में से छटाक भर छिनना उतना नहीं सहन किया जा सकता। कहनें के लिये छिनने की मात्रा पाव से छटाक रह गई। पर शोषित की दुर्दशा बढ़ी ही। इस प्रकार पून्जीवादी युगको मजदूर की अपेक्षा ग्राम्यवादी युग के मजदूर का चौथाई शोषण भी अधिक कष्ट कर है। क्योंकि पून्जीवादी युग का मजदूर आर्थिक दृष्टि से जितना समर्थ होता है उतना ग्राम्यवादी युग का नहीं होता।

७—— हृदय परिवर्तन या दान के बल पर देश की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा करना उन समस्याओं को ओर से आंख बन्द कर लेना है। क्योंकि सेर भर पाप करके मनुष्य छटाक आधापाव दान करता है उसमें भी यह देखता है कि दान के नाम पर बेकार माल निकल जाय। कहावत भी है कि दानकी बछियाके दांत नहीं होते। फिर दान देकर जो गौरव वह प्राप्त करता है उससे पाप करने की तथा पाप छिपाने की क्षमता भी प्राप्त करता है। इसका दुरुपयोग बढ़कर बीमारी को बढ़ा देता है। फिर दान की मात्रा इतनी कम रहती है कि वह समस्या के एक दो फी सदी से अधिक पर असर नहीं करती।

इस प्रकार के दान के मूल में भय रहता है, अगर दान न देंगे तो देख लिये जायंगे, सब चला जायगा। इस डर से दान दिया जाता है। इससे आत्मशुद्धि तो होती ही नहीं है पर अशुद्धि बढ जाती है। देश में शुद्ध हृदय के दानी भी हैं पर वे इतने कम हैं कि देशव्यापी आर्थिक समस्या सुलझाने में उनके दान का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। दान तो सिर्फ कुछ संस्थाओं को चलाने तथा साधु आदि समाज सेवकों को दान देकर एक तरह से अप्रत्यक्ष विनिमय के रूप में ही काम आ सकता है।

दान के भरोसे आर्थिक समस्या नहीं सुलझ सकती। पुराने जमाने में कई बार ऐसे प्रयत्न किये गये कि राज्य की समस्त संपत्ति छीन कर लोगों में बांट दी गयी पर उससे समस्या न सुलझी बल्कि उससे कुछ मुफ्तखोर ही बढे। इसलिये ग्राम्यवाद का हृदय परिवर्तन और दान आदि का कार्यक्रम एक तरह की स्वपरवंचना है इसके लिये हमें कानून के द्वारा नई आर्थिक योजनासे काम लेना पड़ेगा। हां कानून ऐसा न हो कि किसी की संपत्ति छीनी जाय।

सिर्फ भविष्य के लिये ही नई योजना बनानी पड़गी। इसके लिये किसी की कोई पूंजी लेना पड़े तो उसको मुआवजा देना होगा जो किस्तबंदी से सरलता से दिया जायगा।

ग्राम्यवाद विकास का मार्ग नहीं है। वह सिर्फ पूंजीवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप एक झुंझलाहट है। विकास की जांच करने के लिये जो पांच शाश्वत सत्य बतायें गये हें ग्राम्यवाद उनकी कसौटी पर ठीक नहीं उतरता।

१— बेकारी हटने की संभावना होने पर भी व्यक्तिवाद की तीव्रता होनें से बेकारी हटेगी नहीं।

२— श्रम बढ़ेगा उत्पादन घटेगा।

३— आदान-प्रदान घट जानेंसे उत्पादन वितरणमें कमी होती है।

४— अर्जिताधिकार रहेगा—सो तो सामन्तवाद और पूंजीवाद में भी था बल्कि ग्राम्यवाद में हृदय परिवर्तन और दान के नाम पर कुछ छीन झपट लिया जायगा। इसलिये अप्रत्यक्ष रूप में अर्जिताधिकार घटेगा ही।

वैयक्तिक स्वतंत्रता सामंतवाद पूंजीवाद सरीखी रहेगी।

इस प्रकार पहिला,दूसरा,तीसरा सत्य ग्राम्यवादमें नष्ट ही होता है। चौथा कुछ घटता है, पांचवा पूंजीवादी युग सरीखा रहता है।

इस प्रकार इसमें प्रगति बिल्कुल नहीं है और विनाश असीम है तथा कई तरह से है, इस प्रकार ग्राम्यवाद बिलकुल हेय है।

—●—

निरतिवाद—

निरतिवाद पूंजीवाद, समाजवाद के बीच की चीज है। इसमें दोनों के बीच के गुणों को मिलाया जाता है और दोषों को हटाया जाता है।

समाजवाद का गुण यह है कि हर एक मनुष्य को जीविका मिलनें की जिम्मेदारी समाज या राज्य ले लेता है इसलिये कोई बेकार नहीं रहता।

पूंजीवाद की विशेषता यह है कि जीविका के क्षेत्र म प्रत्येक मनुष्य काफी स्वतंत्र रहता है।

निरतिवाद में समाजवाद का गुण तो है ही और पूंजीवाद का भी गुण है। समाजवाद की निम्नलिखित बातें निरतिवाद में हैं।

१--- विशाल उद्योगों का राष्ट्रीयकरण।

२--- सट्टा आदि द्यूतरूप व्यापारों की बन्दी।

३--- शेयर आदि लेकर मुनाफा खानें की बन्दी। अर्थात् बिना काम किये मुनाफा खाना।

४--- जिसे बाजार में जीविका न मिली हो उसे जीविका देनें की सरकारी जिम्मेदारी।

५--- जिन व्यापारों में बेईमानी होने लगी हो उन्हें व्यवस्थितरूप में चलानें के लिये सरकारी दुकानों की भी व्यवस्था अर्थात् व्यापारिक अंधाधुन्धी और शोषण से बचाव।

६--- खेती की सामूहिक योजना पंचायती खेती।

७--- अधिक से अधिक संपत्ति की मर्यादा।

निरतिवाद में कुछ बातें ऐसी हैं जो पूंजीवाद में पाई जाती हैं-

१--- खेती, व्यापार, छोटे कारखाने आदि करने या चलानें की स्वतंत्रता।

२--- व्यापार धंधे में नोकर रखकर काम लेनें स्वतंत्रता।

३--- आर्थिक क्रांति करते समय किसी की संपत्ति मुफ्त में न लेनें का निर्णय, राष्ट्रीयकरण के लिये मुआवजा देनें की बात।

समाजवाद में पहले तीन शाश्वत सत्य--

१- सर्वजीविका। २- न्यूनश्रम, अधिक उत्पादन। ३- अर्थचक्र-भ्रमण--काफी मात्रा में रहते हैं। बाकी दो कम हो जाते हैं।

पूंजीवाद में पहला सत्य नहीं होता दूसरा रहता है। तीसरा समाजवाद से काफी कम रहता है। चौथा भी रहता है। पांचवां सबसे अधिक

रहता है। निरतिवाद में उक्त पांच सत्यों का टोटल सबसे अधिक रहता है। या कमी होती है तो नाममात्र की, प्रत्येक सत्य के दस दस नम्बर मान लिये जांय तो उनका हिसाब यों होगा।

किसी व्यवस्था को किसी सत्य के पूर्णांक नहीं दिये जा सकते। क्यों कि हर सत्य की दृष्टि से हर एक व्यवस्था में काफी गुंजाइश है। जैसे सर्वजीविका में औचित्य अनौचित्य की दृष्टि से तरतमता होती है इसी प्रकार अन्य सत्यों के बारे में भी ठीक है फिर भी हर एक गुण का उत्तीर्णांक पांच मानना चाहिये।

	पूंजीवाद	समाजवाद	निरतिवाद
सर्वजीविका—	३ —	७ —	६
अधिक उत्पादन—	६ —	७ —	७
अर्थचक्र गति—	३ —	७ —	७
अर्जिताधिकार—	७ —	५ —	६
स्वतंत्रता—	७ —	४ —	६
	२६	३०	३२

इससे पता चलता है कि पूंजीवाद से समाजवाद में और समाजवाद से निरतिवाद में गुणांश या सत्यांश अधिक हैं यद्यपि किसी किसी विषय में पूंजीवाद और समाजवाद से निरतिवाद में गुणांश कुछ कम हैं परन्तु पांचों का टोटल मिलाने पर निरतिवाद में सबसे अधिक हैं।

यहां यह बात भी ध्यान में रखना चाहिये कि पूंजीवाद दो विषयों में उत्तीर्णांक नहीं पा सका है और एक विषय में समाजवाद उत्तीर्णांक नहीं पा सका है। जब कि निरतिवाद पांचों विषयों में उत्तीर्णांक पा सका है यह बात सबसे अधिक महत्व की है।

उत्तीर्णांक प्राप्त न कर सकने का अर्थ है कि अमुक विषय में अमुक व्यवस्था संतोषजनक नहीं है, इस दृष्टि से पांच में से सिर्फ तीन ही विषयोंमें पूंजीवाद संतोषजनक है, चार विषयोंमें समाजवाद संतोषजनक

है और निरतिवाद पांचों विषयों में सन्तोषजनक है। भले ही किसी विषय में उसे अंक कुछ कम मिले हों ।

---*---

साम्यवाद---

साम्यवाद समाजवाद से अगली मंजिल है, समाजवाद में योग्यता--नुसार काम किया जाता है और काम के अनुसार मिलता है । जब कि साम्यवाद में योग्यतानुसार काम किया जाता है और आवश्यकतानुसार लिया जाता है । यह तभी संभव है जब सारे समाज में एक कुटुम्बीपन का भाव आ जाये ।

मानव प्रकृति का इतना अधिक विकास अभी कल्पना का ही विषय है । आज यह संभव नहीं है । अगर सभव होता तो सर्वजीविका, अधिक उत्पादन और अर्थचक्र गति में कुछ नम्बर अधिक मिलते और अर्जिताधिकार और स्वतंत्रता में कम मिलते, इस प्रकार इसके प्राप्तांक ३० से ३२ तक जाते। परन्तु अभी तो मानव प्रकृतिका इतना विकास नहीं हुआ है । और काफी समय तक इतने विकास की संभावना भी नहीं है । ऐसी हालत में यदि साम्यवादी योजना को लागू किया जाय तो सारे गुण चोपट हो जायगें । सलिये अभी साम्यवादी योजना का विचार ही व्यर्थ है ।

---*---

अराज्यवाद---

अराज्यवाद और ऊंची कल्पना है । इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य इतना विकसित हो जाय कि राज्यके बिना सबका सबकाम व्यवस्थित ढंगसे चलने लगे । न किसीमें बेईमानी हो न परस्पर परायापन का

भाव—न कोई अपराधी हो। इसलिये राज्य की जरूरत ही न रहे। अभी शताब्दियों तक इसकी कोई सम्भावना नहीं है। आज इसे काममें लाया जाय तो नरक बन जाय। स्वतंत्रता के नाम पर सब उच्छृंखल भले ही ही बन जांय बाकी और कोई गुण न रहेगा।

इस प्रकार इन अन्य वादों में निरतिवाद ही उपादेय है, वही व्यवहार्य है और इसमें अव्यवहार्य वादों की अपेक्षा शाश्वत सत्य के अंश भी अधिक हैं।

यद्यपि जगत में कुछ भी शाश्वत नहीं है और शाश्वत सत्यों के नाम पर जो लोग उचित आर्थिक परिवर्तनों का विरोध करते हैं उनका विरोध निःसार है। फिर भी कुछ ऐसे सिद्धांत जरूर हैं जो हजारों वर्षों तक स्थिर हैं। और भूतभविष्य की हर एक आर्थिक क्रांति में जिन्हें कसौटी बनाया जाना चाहिये। भूतकाल की क्रांतियों की जांच करने से जिन सिद्धांतों का पता लगता है साधारणतः हम उन्हें शाश्वत सत्य समझें, और भविष्य की हर एक क्रांति को उन्हींकी कसौटी पर कसकर उसकी उपयुक्तता की जांच करें।

—✷—

३— क्रांतिक्रम

महर्षि मार्क्स ने भौतिक विज्ञान के परिमाण का गुण में संक्रमण सिद्धांत का आधार लेकर जो आर्थिक क्रांति का विवेचन किया है वह काफी महत्वपूर्ण है। उनके यह कहने में भी सचाई है कि क्रांतियां छलांग मारने के समान हैं। क्योंकि जहां तक गुणों का सम्बन्ध है क्रांति में गुण परिवर्तन ऐसा ही होता है। परन्तु यह कहना अर्ध सत्य है कि वह परिवर्तन धीरे २ नहीं होता। इसलिये सुधारवादी नीति न अपनाना चाहिये या समन्वय की कोशिश न करना चाहिये। यह ठीक है कि कभी कभी और कहीं कहीं धीरे धीरे काम नहीं होता पर कहीं

कहीं होता भी है इसलिये हमें विवेक से यह निश्चित करना पड़ेगा कि किस अवसर से किस ढंग से क्या काम हो सकता है। धूप की गर्मी से रोटी सिक नहीं सकती पर बड़े बड़े तालाब तक सूख जाते हैं, फल पक कर खट्टे से मीठे होकर गुण तक परिवर्तन कर जाते हैं इसलिये कहां कौन-सा तरीका उपयोगीहो सकता है इसका निर्णय करना चाहिये। धीरे धीरे होनें वाले गुणात्मक परिवर्त्तनों पर उपेक्षा नहीं की जा सकती।

ठंड की रात्रियों में जब पानी जम जाता है तब उसकी डिग्री धीरे धीरे ही घटती है इस तरह समाज में भी धीरे धीरे परिवर्तन हो सकता है। क्रांतिबिन्दु के बाद पदार्थ में शीघ्रता से गुणात्मक परिवर्तन होता है यह ठीक है, परन्तु वह क्रांति बिन्दु भी धीरे धीरे आता है यह भी ठीक है।

दूसरी बात यह है कि क्रांति बिंदु के बाद जो गुणात्मक परिवर्तन होता है वह उपयोगिताकी दृष्टि से कहां तक ठीक होगा यह भी विचार करना होगा। उदाहरण के लिये पानी एक तरफ क्रांति बिंदु के बाद बर्फ बन जाता है, दूसरी तरफ क्रांति बिंदुके बाद भाप बनजाता है। पर पानी का बर्फ बनना या भाप बनना कहां तक हमारे लिये उपयोगी है इसका भी विचार करना होगा। गर्मीके दिनों में पीनें के लिये ठंडे पानी की जरूरत होती है इसलिये पानी का बर्फ बनाकर काम में लाना ठीक होगा या उसके पहिले की किसी मात्रा तक ठंडा करके। इसी प्रकार ठंडे के दिनों में नहाने के लिये पानी गर्म करना पड़ता है तब पानी की भाप बनाना ठीक होगा या भाप बननें के पहिले किसी मात्रा तक गर्म करना, इन सब बातों का विचार करना जरूरी है।

इस प्रकार हमारे सामने दो प्रश्न हैं कि १—परिवर्तन किस क्रम से करना और २—परिवर्तन कितनी मात्रा में करना। उपयोगिता की दृष्टि से हमें इन पर विचार करना होगा।

जो बात पानी के बारे में कही गई है वही बात आर्थिक क्रांति के बारे में भी है।

महर्षि मार्क्स के समय में यह सोचना बिलकुल ठीक था कि आर्थिक परिवर्तन बिना घोर संघर्ष के न होंगे। बल्कि उस समय यह कहना तक ठीक ही था कि इसके लिये खून तक बहाना पड़ेगा। परन्तु तबसे अब तक दुनिया इतनी बदल गई है कि बहुत से काम जो पहिले खून बहाये बिना न होते थे अब खून बहाये बिना होने लगे हैं। एक दिन इंगलैंड को अपना एक बादशाह हटाने के लिये कत्ल करना पड़ा; पर पर पीछे विधान की कलम से बादशाह बदल दिया गया। एक दिन भारत में छोटा-सा राज्य छीनने के लिये युद्ध करना पड़ता था, इतना ही नहीं, किन्तु सूबेदार या नवाब सरीखे अधिकारी बदलने में भी खून बहाना पड़ा था। पर आज अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से विवश होकर वैधानिक तरीके से ही हिंदुस्तान, बर्मा, लंका का राज्य बदल गया और भारत के सैंकड़ों राजा कलम के जरिये ही राज्यपद से हटा दिये गये।

इसका कारण यह है कि परिवर्तन करने वाली परिस्थितियां और शक्तियां इतनी बढ गई हैं कि उनके साथ लोहा लेने के लिये प्रतिक्रियावादी शक्तियां हिम्मत नहीं करतीं, उधर दुनियां के इतिहास नें या रूख ने या जमाने की जरूरत ने प्रतिक्रियावादी शक्तियों को भी इतना कठोर नहीं रक्खा है कि वे बात बात में लोहा उठानें को तैयार हो जायं। इसलिये मार्क्स युग में जो बात समझौतों से या वैधानिक तरोकों से असंभव मालूम होती थी आज वह असंभव नहीं है। हां यह हो सकता है कि कहीं कठोर तरीकों से काम लेना पड़े पर अब इसे अनिवार्य नहीं कह सकते। इसलिये इस विषय में महर्षि मार्क्स एंगिल्स ने जो कहा है उसका अन्ध अनुकरण न करना चाहिये।

आर्थिक परिवर्तन के लिये दुनियां का और युग का वातावरण कितना अनुकुल हो गया है इसके कुछ चिन्ह ये हैं—

१— समाजवादी व्यवस्था व्यवहार में आ भी सकती है इस पर लोगों को पहले विश्वास नहीं था। पुरानें जमानों में, प्लेटो से लेकर आज तक दो ढाई हजार वर्षों में न जानें कितने बार ऐसे प्रयत्न किये

गये पर वे निष्फल गये, इसलियें लोगों को इस प्रणाली पर घोर अवि-श्वास था । पर रूस में छत्तीस बर्ष से यह प्रणाली चल रही हैं और काफी सफल हुई हैं, इतना हीं नहीं और भीं अनेक देशों ने इस प्रणाली को अपना कर सफलता प्राप्त की हैं इससे इसकी व्यवहारिकता संबंधी अविश्वास समाप्त हो गया हैं । और हर देश की काफी जनता इस प्रणाली के विषय में श्रद्धा रखने लगीं हैं ।

२— समाजवाद के नाम की नैतिक विजय इतनीं हो गई हैं कि समाजवाद के विरोधी भी अपनें को किसी न किसी तरह का समाज-वादीं कहने लगे हैं।

ग्राम्यवादीं और पूंजीवादी भी अपनें को एक तरह का समाजवादी कहते हैं ।

३— पूंजीवाद जो बेकारी तथा युद्ध की परिस्थिति निर्माण करता है उससे लोग उब गये हें । और किसी नई व्यवस्था नये आर्थिक संबंधों कीं खोज में हैं । इतना ही नहीं किंतु लोगों की क्रय शक्ति कीं चिंता पूंजीपतियों को भी करना पड़ती है इसलिये अपने स्वार्थ का खयाल रख कर भीं वर्तमान प्रणाली से सन्तुष्ट नहीं है । कम से कम चिंतित तो हैं ही ।

४— पूंजीवादी देश भी समाजवाद के इस सिद्धांत को मानने लगे हैं कि सब को रोटीं मिलना चाहिये। इसलिये अमेरिका इंगलैंड सरीखे पूंजीवादी देश में भी बेकारी भत्ता बुढापे की पेन्शन तथा अन्य बहुत सीं निःशुल्क सेवाओं के विधान बनाये गये हैं । पूंजीवाद में व्यक्ति के विषय में जितनीं लापर्वाही की जातीं थीं उतनी अब बहुत से पूंजी-वादी देशों में भी नहीं की जातीं है । यह समाजवाद कीं प्रच्छन्न विजय और एक हलका रूप भीं है ।

५— जैसे किसी जमानें में दासप्रथा बोझल हो गई थी, क्योंकि दास खाते खूब थे, बीमार खूब बनते थे, काम बिगाड़ देते थे, स्वयं प्रेरित होकर काम न करते थे, इसलिये उनकी सेवायें मंहगी हो गईं

थीं, इसकी अपेक्षा भृत्यों (नौकरों) से काम लेना अधिक सुविधाजनक था। उनके मरने जीने बीमार होने आदि की जिम्मेदारी मालिक पर नहीं थी, काम ठीक न करने पर उसे अलग किया जा सकता था, वेतन घटाया जा सकता था, इसलिये वह जिम्मेदारीसे काम करता था। भृत्य की प्रथा से कर्मचारी का भी स्वार्थ सिद्ध होता था और मालिकका भी। दोनों के स्वार्थों के समन्वय से दासप्रथा आप से आप उखड़ गई। इसके लिये यहां किसी आंदोलन की, गृहयुद्ध की या अब्राहमलिंकन की जरूरत नहीं पड़ी। इसी प्रकार भृत्य-प्रथा भी काफी बेजिम्मेदार, उत्साह-हीन संघर्षमय हो गई है इसलिये आज साझेदारी की प्रथा जरुरी है। इसमें नौकरों का भी स्वार्थ है और मालिकों का भी। यह स्वार्थ समन्वय भी आर्थिक क्रांति के मार्ग को साफ कर रहा है। इसके लिये युद्धादि संघर्ष की जरूरत नहीं है।

६—पूंजीपति भी भीतर ही भीतर समझने लगे हैं और कहने लगे हैं कि अरे बाबा, समाजवाद तो आकर ही रहेगा।

७—अधिकांश देशों में जनतंत्र आ गया है इसलिये वोटके आधार में आर्थिक परिवर्तन किये जा सकते हैं। जब गरीब या शोषित लोग ही अधिक ह और बहुमत के आधार से ही सरकारें बनती या बिगड़ती हैं तब वैधानिक तरीके से आर्थिक परिवर्तन करना शक्य है और बहुत कठिन नहीं है मतलब यह कि राजाओं के शाश्वत सत्व अब इस कार्य में बाधा नहीं डाल सकते। हां! वोटरों को फुसलाने आदि की कोशिश की जाती है परन्तु नई शक्तियां जनता के विवेक को जगाने का काम करें तो जनता फुसलाई न जा सकेगी। जनता अपने स्वार्थ के लिये भी अपने हाथ के अधिकार का उपयोग न करे यह बात बहुत दिन नहीं चल सकती। इसके लिये समय और श्रम की जरूरत है, सो रक्त क्रांति या उग्र संघर्षमय क्रांति के लिये भी समय और संघर्ष की कम जरूरत नहीं है।

ये सब परिस्थितियां महर्षि मार्क्सके समय में नहीं थीं इसलिये उस समय संघर्ष या युद्ध की भाषा बोलना उचित था। और आज भी कहीं

या कभी इसकी जरूरत हो सकती है पर दुनियां की बदली हुई हालत के अनुसार समझौतों की या वैधानिक तरीकों की काफी गुंजाइश है इसलिये अब इस भाषा को या इस कार्यक्रम को अनिवार्य न समझना चाहिये बल्कि इसे गौण ही बना देना चाहिये। विश्वशांति की दृष्टि से भी यह जरूरी है।

यह तो हुई परिवर्तन के क्रम की बात। दूसरा प्रश्न यह है कि परिवर्तन कितनी मात्रा में करना?

पूंजीवाद के दोष स्पष्ट हैं और समाजवादके गुण भी स्पष्ट हैं फिर भी ऐसी बात नहीं है कि पूंजीवाद विष ही विष हो और समाजवाद अमृत ही अमृत। दोनोंमें गुण और दोनोंमें दोष हैं। हमें निःपक्ष दृष्टि से इन दोनों के गुण दोषों का विचार कर लेना चाहिये। मानव की मनोवृत्तियों के विकास के अनुसार ही इस बात का निर्णय करना पड़ेगा कि किस योजना का कितना अंश आना उचित होगा। खैर पहिले हम दोनों वादों के गुण दोषों को ठीक ठीक समझ लें।

पून्जीवाद के गुण—

१—आर्थिक स्वतन्त्रता।

२—काम में आत्मीयता का भाव, इससे काम में रुचि।

३—कारबार में जिम्मेदारी का भाव इससे कार्य में सुव्यवस्था।

४—समाजवाद की अपेक्षा पूंजीवाद में जनतन्त्र की कुछ ज्यादा गुन्जाइश।

समाजवाद के गुण—

१— हर एक को जीविका देने की जिम्मेदारी सरकार पर होने से बेकारी का अभाव।

२—नारी को अपनी सब सेवाओं का उचित मूल्य मिलने से पूरा नरनारी समभाव। अर्थात आर्थिक दृष्टि से दलित आधी दुनियां को आर्थिक न्याय की प्राप्ति।

३—बाजार में कृत्रिम महंगाई न होने से भावों की व्यवस्था।

४—हर एक को धंधा मिलने से चोरी डकैती आदि पर अंकुश।

५—आर्थिक विषमता पर अंकुश। प्रायः गुण और सेवा के अनुसार ही वैभव की प्राप्ति।

६—हर आदमी काम में लगा होने से अधिक उत्पादन।

७—पूंजीवाद में एक दूकान की जगह दस दूकान होने से तथा अपनी-अपनी चीज खपाने के लिये अनाप शनाप विज्ञापन का खर्च होने से जो ग्राहकों से अधिक मुनाफा लिया जाता है और इस तरह महंगाई बढ़ती है, उसका अभाव। समाजवाद में ऐसा मुनाफा नहीं देना पड़ता।

८—किसी भी विशाल कार्य के भिन्न भिन्न भागों में समन्वय तथा एकतंत्रता मकान बनाने के लिये लोहा, लकड़ी, सिमिंट, चूना, पत्थर मजदूर यातायात आदि की जितनी जरूरत सब व्यवस्था के साथ पूरा होता है क्योंकि सभी की मालिकी समाज के हाथ मे होने से कोई अड़ाने वाला नहीं होता। व्यक्तिवाद या पूंजीवाद में हर चीज के अलग अलग मालिक होते हैं जिनके स्वार्थ भिन्न भिन्न भिन्न हैं, जिन्हें अमुक काम से (मकान बनने से) कोई मतलब नहीं, अपनी चीज बचने से तथा मौका पाकर अधिक से अधिक दाम वसूल करने से मतलब है इसलिये पूंजीवाद में किसी काम में सबका उचित और समय पर सहयोग नहीं होता, जब कि समाजवाद में जल्दी, सरलता से, सहयोग से तथा उचित मूल्य से होता है।

९—जीविका की तथा बुढ़ापा बीमारी आदि में पालन पोषन की चिंता नहीं रहती।

दोनों व्यवस्थाओं के जो गुण बताये गये हैं उससे दोनों के दोषों का पता लग सकता है। पूंजीवाद के गुणों से समाजवाद के दोषों का पता लगता है और समाजवाद के गुणों से पूंजीवाद के दोषों का पता लगता है। उनका विस्तार भी समझा जा सकता है। इस प्रकार दोनों गुण दोषमय होने पर भी उनमें से किसको कितने अंशों में अपनाना और कौनसी व्यवस्था रखना आदि बातों के विषय में हमें निम्नलिखित सूचनाओं पर ध्यान देना चाहिये और उन्हींके अनुसार निर्णय करना चाहिये।

१– दोनोंमें गुण और दोनों में दोष होनें पर भी आजकी समस्याओं को सुलझानें के लिये काफी मात्रा में समाजवाद अपनाना चाहिये। आज व्यक्तिवाद में जितने गुण हैं उससे ज्यादा गुण समाजवाद में है और व्यक्तिवाद में जितने दोष हैं समाजवाद में उससे कम दोष हैं।

२–– दोनों वादों की सफलता अपनी विशेष व्यवस्था पर जितना निर्भर है उतनी या उससे कुछ अधिक लोगों की ईमानदारी और भाई-चारे पर निर्भर है। व्यक्तिवाद की अपेक्षा भी समाजवाद में ईमानदारी तथा भाईचारे (समभाव) की जरूरत ज्यादा है। उत्तरोत्तर खराब की दृष्टि से इन व्यवस्थाओं का निम्नलिखित क्रम होगा।

१— समभावी ईमानदार समाजवाद।

२–– समभावी ईमानदार व्यक्तिवाद।

३— संकुचित बेईमान व्यक्तिवाद।

४–- संकुचित बेईमान समाजवाद।

३–– समाजवाद आजानें से कोई समाज ईमानदार समभावी आदि नहीं बन जाता। इसके लिये अलग से प्रयत्न करना पड़ता है। व्यक्तिवादी युग में भी ऊंची से ऊंची ईमानदारी और भाईचारा देखा गया है इन गुणों के लिये उपेक्षा नहीं करना चाहिये और न समाजवाद आने की बाट देखना चाहिये।

४— ऐसा समय आ सकता है जब समाजवादी व्यवस्था आकर विकृत हो जाय इस समाज को व्यक्तिवाद की झुकाना पड़े। (क्रांति के कुछ वर्ष बाद रूसमें व्यक्तिवादकी ओर ओर कुछ झुकाव हुआ है।) व्यक्तिवाद जैसे अपने दोषों की अधिकता से नष्ट हो सकता है उसी प्रकार एक लंबा युग बीतनें पर समाजवाद अपने दोषों के कारण नष्ट हो सकता है।

५— समाजवाद की अगली मंजिल साम्यवाद है और उसकी भी अगली मंजिल अराज्यवाद है या स्वयं शासकवाद है। यह सम्भव है कि समाज इन मंजिलों पर बढता हुआ चला जाय, या यह भी सम्भव है कि बार बार लौटकर और व्यक्तिवाद को अपनाकर आगे बढे।

६— मानव समाज यदि संयम भाईचारा आदि की दृष्टि से पूर्ण विकसित हो जाय तो या तो समाजवाद व्यक्तिवाद का भेद ही न रहे या किसी भी एक वाद से समाज की समस्याएं हल हो जायं। पर आज तो इस अवस्था की कल्पना स्वप्न के समान ही है।

७— संयम आदि की दृष्टि से आज मनुष्य समाजकी जैसी अवस्था है उसे देखते हुए हमें समाजवाद की ओर झुकना चाहिये, पर उतना ही जितना अधिक उत्पादन और योग्य विभाजन के लियें जरूरी हो पड़े। समाजवाद को अपने आप में एक गुण मानकर नहीं अपनाना है परन्तु उसकी उपयोगिता देखकर आवश्यक मात्रा में ही अपनाना है।

८— व्यक्तिवाद से समाजवाद की ओर जाने के लिये मारकाट आदि को अनिवार्य न मानना चाहिये न पूंजीवादियों को गाली देना चाहिये। शांति से भी उचित परिवर्तन हो सकते हैं। खास कर जहां जनतन्त्र है वहां तो और गुंजाइश है।

९— पूंजीवाद के परिणाम स्वरूप जिन धनवानों का निर्माण हुआ है उसमें उन धनवानों का कोई दोष नहीं है। वे अमुक व्यवस्थाके परिणाम हैं इसलिये यदि आर्थिक व्यवस्था बदल दी जाय तो एकाध

पीढी में यह अत्यधिक विषमता आपसे ही दूर हो जायगी। छीना-झपटी करने की जरूरत नहीं होगी।

वसंत आने पर पतझड़ आप से हो जाता है डंडा लेकर पत्ते झाड़ कर वसंतोत्सव नहीं मनाना पड़ता।

१०— समाजवाद और व्यक्तिवाद के सम्मिश्रण या समन्वय रूप निरतिवाद को अपनाना चाहिये।

पिछली एक या पौन शताब्दी में दुनिया के आर्थिक तथा राजनीतिक ढांचे में बहुत परिवर्तन हुए हैं। उनसे क्रांति के क्रम और मर्यादा को समझने में काफी सुभीता हुआ है।

महर्षि मार्क्स ने अपने युग की परिस्थिति के अनुसार ठीक ही कहा था पर अब जो परिस्थिति है उसके अनुसार हमें उस पर पुनर्विचार कर क्रांति क्रमके बारेमें सोचना है जिसका निर्देश ऊपर किया गया है।

---*---

४—क्रांति की दिशा

मार्क्सवाद के अनुसार क्रांति में सदा नवीनता होती है वह कोल्हू के बैल की तरह एक ही जगह चक्कर नहीं खाती। न जो पहिले हो चुका उसे सीधे सीधे दुहराती है।

इस सिद्धांतों में काफी सच्चाई है। वन्ययुग से समाजवादी युग तक जो क्रांतियां हुई हैं उनमें यह सच्चाई साफ दिखाई देती है। भविष्य में समाजवाद से साम्यवाद और अराजवाद की तरफ जो प्रगति बताई जाती है उसमें भी इस सिद्धांत का अनुसरण होता है। तो भी कहा जाता है कि जो बीत गया सो बीत गया अब वह लौट कर नहीं आ सकता है। भविष्य तो भूत बनता है पर भूतभविष्य नहीं बनता।

यह सब ठीक होने पर भी यहां कुछ स्पष्टीकरण या संशोधन जरूरी है।

संसार की सारी रचना चक्रमय है। परमाणु के भीतर ऐलेक्ट्रोन एक सरीखे गोल चक्कर मारते हैं। परमाणु आपस में भी एक दूसरें की प्रदक्षिणा देते हैं ग्रह अपनी धुरी पर गोल चक्कर मारने के साथ सूर्य के चारों तरफ चक्कर मारते हैं। मार्क्सवाद जब सामाजिक बातों में भी प्रकृति का अनुसरण करता है तब समाज की चक्रमय गति में भी विश्वास करना चाहिये। पुरानी व्यवस्थाओं का पुनर्जन्म भी मानना चाहिये।

काल जैसा अनन्त है वैसी समाज व्यवस्थाएं अनन्त नहीं हैं। भूत की तीन (प्राचीन साम्यवादी, दासयुग, सामन्तवादी,) वर्तमान की दो (पून्जीवादी, समाजवादी,) और भविष्य की दो (साम्यवादी, अराज्य-वादी,) इस प्रकार खास तरह की व्यवस्थाएं हमारे विचार में हैं। हो सकता है कि कुछ नई व्यवस्थाएं हमारे ध्यान में और आजायें, पर उन सबके बीतने पर भी यदि प्रलय न हुआ और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार या गत्यात्मक वस्तुवाद के अनुसार परिवर्तन होते रहे तो बीती हुई व्यवस्थाओं में से ही कोई न कोई व्यवस्था लोटेगी। हां! यह अवश्य है कि वह ज्योंकि त्यों न होगी। आदिम साम्यवाद और भविष्य में आनेवाले साम्यवाद में काफी अन्तर है। इस तरह भूतकाल की जिन आर्थिक अवस्थाओं की पुनरावृत्ति होगी, वह अपनें भूतरूप से थोड़ा बहुत अन्तर जरूर रखेगी। इस प्रकार का थोड़ा बहुत अन्तर भले ही हो किंतु साधारणतः आर्थिक अवस्थाओं की पुनरावृत्ति का निषेध नहीं किया जा सकता।

यहां एक खास बात कहना है कि कभी नई व्यवस्था अतिवाद रूप हो जाती है। इसलिये उसे परिस्थिति के अनुसार ठीक मात्रा में लाने के लिये पीछे की ओर लौटना पड़ता है। उदाहरण के लिये व्यक्तिवाद और समाजवाद। व्यक्तिवाद अर्थात पून्जीवाद से समाजवाद विकसित है, किंतु यह हो सकता है कि मानवस्वभाव की कमजोरियों के कारण समाजवाद में कुछ दोष ऐसे दिखाई दे सकें जिससे व्यक्तिवाद या

पून्जीवाद की ओर लौटना पड़े। ऐसी अवस्था में कहना उचित न होगा कि यह कोल्हू की बैल की तरह जहां का तहां घूमता है।

सच बात तो यह है कि हमें किसी व्यवस्था को स्वयं सिद्ध रुप में विकसित या अविकसित नहीं मान लेना चाहिये, और अगर किसी को विकसित मान लिया जाय तो अन्धे बनकर उससे चिपटकर रहना नहीं चाहिये। असली कसौटी समाज को सुख साधन वृद्धि है जो व्यवस्था इसके लिये उपयोगी हो उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। कभी कभी व्यक्तिवाद से भी समाज सुखी रहता है और कभी-कभी समाजवाद से। इसलिये जनहित की दृष्टि से समाज-वाद से व्यक्तिवाद की ओर भी झुकना पड़ता है या कोई बीच की व्यवस्था का निर्माण करना पड़ता है।

सुख का आधार व्यक्ति है, समाज नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सुख का अलग-अलग संवर्धन करता है। व्यक्ति अपने सुख के लिये दूसरों से सहयोग चाहता है, इसलिये सहयोग का आदान प्रदान होता है यही समाज निर्माण का उपयोग है इसलिये कहना चाहिये कि व्यक्तियों के सुख के लिये समाज है। इस प्रकार एक तरफ सामाजिकता का ध्यान रखना है दूसरी तरफ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता जब सामाजिकता को इतना क्षीण कर दे कि मनुष्य गुलाम सरीखा बन जाय तब व्यक्तिवाद की ओर लौटना पड़ेगा। मतलब यह कि समाजवाद भी एक अतिवाद है और व्यक्तिवाद भी एक अति-वाद है। मर्यादित रूपों में दोनों का स्वीकार्य रूप मध्यम अवस्था निरतीवाद है।

कितना समाजवाद कब अतिवाद है और कितना व्यक्तिवाद कब अतिवाद है यह मनुष्यों की मनोवृत्ति पर निर्भर है। हो सकता है कि परस्पर स्वार्थत्याग की भावना इतनी बढ़ जाय कि समाजवाद की पर्याप्त मात्रा भी अतिवाद न हो, और हो सकता है कि स्वार्थत्याग, उदारता आदि की मात्रा अधिक न बढ़ी हो इसलिये समाजवाद की साधारण मात्रा भी अतिवाद हो। ऐसी हालतमें समाज की मनोभूमिका

को देखकर ही समाजवाद व्यक्तिवाद की मात्राओं को अपनाने का निर्णय करना पड़ेगा। इस प्रकार निरतिवाद का सब जगह और सब समय एक सा रूप न होगा।

हो सकता है कि कभी व्यक्तिवाद की हानियों से ऊबकर समाज-वाद की मात्रा बढ़ाई जाय कि व्यक्ति का दम घुटने लगे, ऐसी हालत में अमुक अंश में व्यक्तिवाद की ओर लौटना पड़े। तब इस लौटने को अनुचित नहीं कहा जा सकता। 'यह तो कोल्हू के बैल की तरह चक्कर लगाना हो गया यह कहकर इस लौटने की निंदा नहीं की जा सकती।

कहने का मतलब यह है कि क्रांति में नवीनता होती है, मार्क्सवादके इस कथन में काफी सचाई होने पर भी हमें आगे पीछे होना पड़ता है। आगे पीछे होने में एक तरह का गोल चक्कर भी बन सकता है। हमें आगे पीछे होना और गोल चक्कर होने की बात से घबराना न चाहिये न इसे उचित अनुचित की कसौटी मानना चाहिये। समाज की परि-स्थिति और मनोवृत्ति देखकर निरतिवादकी तरफ मुंह रखना चाहिये। क्रांति की वास्तविक दिशा यही है।

—✻—

५— आध्यात्मिकता

मायावाद, शून्यवाद, ईश्वरवाद आदि का मार्क्सवाद में कोई स्थान नहीं है। ये सब क्रांति के विरोधी हैं भुलावे में डालकर आर्थिक दूर-वस्था को कायम रखते हैं इसलिये इन सब वादों का मार्क्सवाद में विरोध किया गया है।

यह ठीक है कि धर्म और दर्शन शोषकों के वकील बनकर सैकड़ों वर्ष तक रहे हैं। मार्क्सयुग में यूरोप में धर्म तो बिल्कुल राज्य का अंग बना हुआ था। वह शोषकों के आश्रित था इसलिये जन साधारण के

हित की वह उपेक्षा कर बैठा था। ऐसी हालत में इस विषय में महर्षि मार्क्स ने जो कुछ कहा ठीक ही कहा।

परन्तु यह सामयिक सत्य ही है त्रैकालिक सत्य नहीं। धर्म या दर्शन प्रारम्भ में भी ऐसे ही अनर्थकर थे यह बात नहीं है। सच पूछा जाय तो वे भी अपने जन्म काल में समाज के दुःखों की यथासाध्य चिकित्सा रूप थे। और उनने पीढ़ियों तक मनुष्य की मानसिक और सामाजिक बीमारियों का इलाज भी किया। हां! पीछे उनका दुरुपयोग भी हुआ। इसमें उनका कोई अपराध नहीं। उम्र पूरी होने पर अर्थात परिस्थिति बदल जाने पर हरएक चीजका दुरुपयोग होता है। मार्क्सवाद का भी दुरुपयोग न होगा यह कौन कह सकता है।

आध्यात्मिक वर्ग के लोग क्रांति का जिस प्रकार विरोध करते हैं उसे देखते हुए महर्षिमार्क्स को आध्यात्मिकता का ही विरोध करना पड़ा, इसमें आश्चर्य नहीं है, फिर भी त्रैकालिक सत्य की दृष्टि से या न्याय की दृष्टि से यह कहना चाहिये कि आध्यात्मिकता मूल में खराब चीज नहीं है, वह क्रांति में बाधा नहीं डालती, क्रांति में बाधा डालने के लिये जो उसका रूप चित्रित किया जाता है वह खंडनीय है।

इस विषयमें हमारा दृष्टिकोण ऐसा होना चाहिये कि न तो अध्यात्मिकता के साथ अन्याय हो न वह मानवकल्याण में बाधक बन सकें, इस विषय में यहां कुछ सूचनाएं देकर स्पष्टीकरण किया जाता है।

१ — मायावाद का अर्थ जो आज किया जाता है वह ठीक नहीं। वह संसार की समस्याओं को सुलझाने से भागने का एक बहाना है। इसका वास्तविक दार्शनिक रूप यही है कि बहुत सी बातें जिन्हें हम व्यवहार में जिस प्रकार निश्चित रूप में समझते हैं वास्तव में वैसी हैं नहीं। जैसे आइंस्टीन ने अपने सापेक्षवाद के जरिए काल आदि की निरपेक्ष सत्ता खंडित कर दी—उसी तरह जगत की वह निरपेक्ष सत्ता जो हम प्रतिभाषित होती है उसे मायावाद ने अस्वीकार कर दिया। जगत् है पर वैसा नहीं जैसा हमें दीखता है—यह मायावाद है। माया-

वाद की इस दार्शनिक व्याख्या से धर्म या समाज व्यवस्था का कुछ बनता बिगड़ता नहीं है, क्योंकि यह कर्त्तव्य भ्रष्ट होने के लिये किसी को प्रेरित नहीं करता। संसार मूल रूप में कैसा भी हो, परन्तु जीवन की सुखदुख और समाज की अच्छी बुरी व्यवस्थाओं का विवेक हमें करना चाहिये। मायावादी भी भोजन को माया कहकर भूखा नहीं रहता इसलिये उस मायावाद का तो हमें विरोध करना चाहिये जो कर्त्तव्य में कायरता पैदा करता है। महर्षिमार्क्स ने इसका जो विरोध किया वह अच्छा ही किया।

२—सामाजिक क्रांति के लिए ईश्वरवाद का विरोध अनिवार्य नहीं है, क्योंकि ईश्वर मान्यता का वास्तविक ध्येय अच्छे-बुरे फल की व्यवस्था पर विश्वास करना ही है। इस विश्वास से समाजिक क्रांति में कोई बाधा नहीं आती बल्कि अगर यह विश्वास वास्तविक हो तो जीवन म पूरी ईमानदारी और विश्वहितैषिता का भाव ही पैदा होता है। यह सामाजिक क्रांति और सुव्यवस्था के लिये बाधक नहीं किन्तु साधक ही है। फिर भी महर्षिमार्क्स ने ईश्वरवाद का जो विरोध किया सो ठीक ही किया। क्योंकि ईश्वरवाद के जो रूप साधारण लोगोंके विचारों म है—वे खंडनीय हैं। कोई कहता है-सामन्त लोग ईश्वर के प्रतिनिधि हैं इसलिये उनकी आज्ञा मानना चाहिये और उनकी चाकरी करना चाहिये। कोई कहता है ईश्वर भक्ति से सब पाप माफ कर देता है। इसलिये पाप भले ही हो जाय पर भक्ति में कमी नहीं होना चाहिये। ये सब ईश्वरवाद के झूठे और छलनामय रूप हैं। दर्शन शास्त्र में ईश्वर का रूप ऐसा नहीं है। और न ईश्वरवाद का निर्माण भी ऐसे प्रयोजन से हुआ है। चूंकि ईश्वरवाद का झूठा रूप काफी प्रचलित है और वह सामाजिक क्रांति और न्याय में काफी बाधा डालता रहा है इसलिये महर्षिमार्क्स के जरिये उनका विरोध उचित ही कहा जा सकता है। परन्तु ईश्वरवाद का जो वास्तविक रूप है उसका विरोध करने की कोई जरूरत नहीं है। हां! अगर कोई उसके बिना भी अगर जीवन का और समाज का विकास कर सकता है तो ईश्वरवाद जबर्दस्ती

थोपने की बात भी नहीं है। यहां सिर्फ इतना ही कहना है कि ईश्वर-वाद का विरोध मार्क्सयुग में भले ही जरूरी हो पड़ा हो परन्तु वह जरूरी है नहीं। कोई ईश्वरवादी रहे तो भला, न रहे तो भला। ईश्व-रवाद से मनको कुछ तसल्ली जरूर मिलती है सो जिसको लेना हो ले न लेना हो न ले।

३ – आत्मवाद के विषयमें भी करीब करीब यही बात कहना है। आत्मवाद का मुख्य प्रयोजन परलोक की सत्ता में विश्वास करके पुण्य पाप के फलपर श्रद्धा रखना है। जिससे इस जीवन में पुण्यका फल न मिले तो भी आशा बनी रहे और पापका फल न मिले तो भी भय बना रहे। आत्मवाद का यह रूप समाज की सुव्यवस्था में साधक ही है। फिर भी सदियों से इसका दुरुपयोग होता आ रहा है। शोषक वर्ग शोषितों से यह कहता जा रहा है कि तुम लोगों की गरीबी पूर्व जन्म के पाप का फल है इसलिये उसे भोग लेने में ही भला है। सचमुच यह आत्मवाद का बहुत ही मिथ्या अर्थ है। पूरा दुरुपयोग है। आत्मवाद यह नहीं कहता कि जो गरीब के यहां पैदा हुआ है,वह जीवनभर गरीब ही रहेगा, जो आज गरीब है वह सदा गरीब ही रहेगा।

आत्मवाद प्रयत्न या पुरुषार्थ का विरोधी नहीं है। इसलिये वह न सामाजिक क्रांति का विरोध करता है न आर्थिक क्रांति का। यह ठीक है कि महर्षिमार्क्स के सामने आत्मवाद के दुरुपयोग के ही चित्र बहुत थे इसलिये आत्मवाद का विरोध करना उनके लिये जरूरी हो पड़ा था। परन्तु आतमवाद का विरोध जरूरी है नहीं। हां बहुत से लोग इसके बिना भी काम चला सकतें हैं। इसलिये आत्मवाद भी अनिवार्य नहीं है।

साधारणतः आत्मवाद ईश्वरवाद आदि का विश्वास रखने से जीवन में एक तसल्ली बनी रहती है इसलिये उसका एकान्त विरोध करना ठीक नहीं। हां! जिनको न मानना हो उनको न मानने की छुट्टी देना चाहिये। महर्षि मार्क्स को न मानने पर जोर देना पड़ा इसका कारण तात्कालिक परिस्थिति है।

४—धर्म संस्थाएं भी अपने युग की सामाजिक और आर्थिक क्रांतियां है। यद्यपि ईसाई धर्म के नाम पर पोपों और पादरियोंने सामन्तवाद और पून्जीवाद के गीत गाने शुरु कर दिये थे परन्तु ईसाई धर्म के मूल में पून्जीवाद आदिका विरोध ही था। महात्मा ईसा ने कहा था कि सुई के छेद में से ऊंट निकल सकता है पर स्वर्ग के दरवाजे में से धनवान नहीं निकल सकता। हजरत मुहम्मद ने व्याज को हराम बताया था, म. महावीर तथा म. बुद्ध ने अपरिगृह पर जोर दिया था, सभी धर्मों में त्याग दान भाईचारे पर जोर दिया गया है। हां यह सब कार्य उन धर्मो की परिस्थिति के अनुरूप हुआ है। पून्जीवाद के चरम विकास के युग मे समाजवाद का जो रूप पेश किया गया वह सामन्तवादी युग में या उसके पहिले के युग में कैसे बन सकता था? आज की भी क्रांतियां कालान्तर में क्रांति नही रहनेवाली हैं। वे जितने अंश में मानव को आगे बढ़ा देंगी उतना ही काफी है।

हर एक क्रांति या धर्म संस्था पैदा होकर जवान होकर बीमार और बूढ़ी होकर मरती है। उसकी जगह कोई नई व्यवस्था लेती है। पुराने धर्मो के बारे में आज यही कहा जा सकता है और आज की क्रांतियों के बारे में भी भविष्य में कभी ऐसा कहा जा सकेगा। इसलिये पुराने धर्मो पर न तो अन्धविश्वास रखने की जरूरत है, न उन्हें मानव समाज का शत्रु मानने की जरूरत है। अपने युग में वे मानव समाजका काफी कल्याण कर चुके, थोड़ी बहुत प्रेरणा आज भी उनसे अर्थात् उनके मूलरूप से ली जा सकती है।

५—आध्यात्मिकता के नाम पर मोक्ष आदि का भी उल्लेख होता है। इसमें संदेह नही कि मोक्ष के नाम पर बहुत से लोग अकर्मण्य और भोंदू बने हुए हैं, आत्मकल्याण के नामपर उनमें घोर स्वार्थपरता स्थान जमाये हुए हैं। अकर्मण्यता के प्रचार से ही बहुत से लोग देवता की तरह पुज रहे हैं, निःसन्देह ऐसे मोक्ष का और ऐसे मुमुक्षुओं का घोर विरोध होना चाहिये, नये सामाजिक और शासकीय विधानों से इन्हें उपयोगी काम में लगने के लिये विवश करना चाहिये, इनकी मुफ्त-

खोरी हटाना चाहिये। इन लोगों का जीवन समाज के ऊपर भार ही नहीं है किन्तु लकवा मारनें की बीमारी का काम भी वे करते हैं।

इतना होने पर भी यह भूलना न चाहिये कि मोक्ष एक पुरुषार्थ है। बड़े बड़े दुःखों और संकटों की पर्वाह न करते हुए हर हालत में धीरज और शांति रखना, पथभृष्ट न होना मोक्ष है। स्वयं महर्षि कार्लमार्क्स के जीवन में भी यह मोक्ष था, इसलिये वास्तविक मोक्ष का विरोध न होना चाहिये। हर एक आदमी को हर समय यह जरूरी है।

आध्यात्मवाद या आदर्शवाद के नाम से जिन बातों का विरोध महर्षि मार्क्स ने किया वह उनके समय के वातावरण के लिये उचित था। बहुत से स्थानों पर आज भी उचित है। दार्शनिकता की दृष्टि से भी बहुत सी बातें ठीक हैं। पर वह अध्यात्मवाद का वास्तविक रूप भी है जो जीवन के लिये हानिकर तो है ही नहीं किन्तु काफी उपयोगी है उसका हमें समर्थन करना चाहिये। अध्यात्मवाद का एकन्त विरोध ठीक नहीं।

६— जीवन और अर्थ

—●—

महर्षि मार्क्स नें विकास के मुख्य साधन के रूप में अर्थ पर ही जोर दिया है। विकास में महामानवों के विचारों की उपयोगिता भी उननें सामयिक कारणों से अस्वीकार की है। उनके इस कथन में करीब अस्सी फी सदी सचाई है। जो घटनायें सामाजिक या आध्यामिक कारणों से प्रेरित होती हैं उनके मूलमें भी आर्थिक समस्या है। यह बात भी सत्य है। फिर भी इस विवेचन में कुछ कमी रह जाती है। क्योंकि जीवन का मुख्य ध्येय अर्थ नहीं है किन्तु वह ध्येय की पूर्ती का मुख्य और व्यापक साधन है।

जीवन का वास्तविक ध्येय सुख हैं किन्तु सुख का मुख्य साधन अर्थ है। इसलिये अर्थ को मुख्यता प्राप्त हो जाती है। साधारणतः सामाजिक परिवर्तनों और विकास पर अर्थ या अर्थ प्रणाली का प्रभाव पड़ता है।

फिर भी सुख के कुछ स्रोत ऐसे भी हैं जो अर्थ के बिना भी काम करते हैं। बहुत से लोग प्रेम के लिए या नाम के लिये अर्थ की भी पर्वाह नहीं करते। भूख प्यास आदि कष्ट सहकर तथा संपत्ति का त्याग करके भी जीवन का विकास करते हैं।–विश्व प्रेम की भावना का सुख, या यश प्रतिष्ठा आदि का सुख उन्हें अर्थ की पर्वाह नहीं करनें

देता। समाज में भी ऐसी मनोवृत्तियां कुछ परिमाण में आ सकती हैं। इसलिये यह कहा जा सकता है कि आर्थिक परिवर्तनों के बिना भी समाज में प्रेम, ईमान, सहयोग आदि के आधार पर काफी परिवर्तन और विकास हो सकते हैं। इसकी प्रेरणा महामानवों के जीवन से उनके उपदेशों से तथा अन्य प्रयत्नों से मिल सकती है।

मेरे कहने का सार यह है—

१— समाज के विकास में अर्थ का सब से अधिक हाथ है।

२— अर्थ अन्तिम ध्येय नहीं है किन्तु अन्तिम ध्येय सुख है।

३— सुख के लिये कभी कभी अर्थ पर उपेक्षा कर दी जाती है।

४— अमीर समाज से कभी गरीब समाज अधिक सुखी होता है या हो सकता है। और इसका मुख्य कारण परस्पर प्रेम, ईमान आदि होता है।

५— यहां मानवों की प्रेरणाएँ इस प्रकार के गुणों के विकास में मुख्य सहायक होती हैं।

६— नये आर्थिक सम्बंध पैदा करने मे भी महामानवों की सेवाएं काफी उपयोगी होती हैं। ऐसा हो सकता है कि किसी समाज में आर्थिक क्रांति की अधिक जरूरत या अनुकूल परिस्थिति होने पर भी क्रांतिकारी महामानव के अभाव में क्रांति रुकी रहे और दूसरी जगह महामानव के कारण हो जाय। साम्यवादी क्रांति की संभावना रूस की अपेक्षा अन्य देशों में अधिक थी फिर भी वहां न हो पाई। पर महामानव लेनिन के कारण रूस में हो गई इसलिये महामानवों की सेवाएं भी उपेक्षणीय नहीं है। हां! यह अवश्य है कि उसके लिये परिस्थितियां काफी सहायक होती हैं। मतलब यह कि परिस्थितियां न हों तो महामानव सफल नहीं हो सकता और महामानव न हो तो परिस्थितियां काफी समय तक बेकार पडी रह सकती हैं।

महर्षि मार्क्स नें आर्थिक पहलू पर ज्यादा जोर क्यों दिया इसके विषय में श्री एंगेल्स का पत्र पहले उद्धृत किया है उससे पता लगता है कि यहां जो दूसरे पहलुओं का संकेत कर दिया गया है वह महर्षि मार्क्स की मंशा के विरुद्ध नहीं है। फिर भी उसका खुलासा करना जरूरी था।

७—सच्चिदानंदवाद

महर्षि मार्क्स ने दुनियां को जो नई आर्थिक योजना दी और क्रांति की रूपरेखा बताई वह युग की मांग थी, उसके आधार पर युग आगे बढ़ा, विकास हुआ। यद्यपि उनकी जिन्दगी में कुछ न हुआ पर उनकी जिन्दगी के बाद उनके साहित्य ने जो किया वह एक तरह से अभूतपूर्व था। सचमुच वे युग प्रवर्तक थे, पैगम्बर थे। दुनियांको सुखी करने का जो उनका सन्देश था उसकी तरफ आज भी बढ़ना है और यथायोग्य परिवर्तन कर उनकी प्रणाली को अपनाना है।

परन्तु इस विषय में जो उननें दर्शन द्वंदात्मक भौतिकवाद दिया वह सामयिक परिस्थितियों से विशेष प्रेरित था विरोधियों के आक्रमण से बचनें की ढाल था इसलिये हम उसे एक तरह से बचाव नीति कह सकते हैं। उसकी जगह हमें दर्शन दूसरा ही ढूंढना चाहिये। और उस दर्शन को मैं सच्चिदानन्दवाद कहता हूं।

हमें निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर ढूंढना है—

१— प्रकृति में विकास किस ओर हो रहा है।

२— संसार और उसके परिवर्तन भौतिक हैं, वास्तविक है, या मायारूप है-मानसिक है ?

३— आदिम युग से आज तक जो आर्थिक क्रांतियां हुयी वे क्यों हुयी ?

४— आर्थिक क्रांति न हो तो भी कोई सामाजिक राजनैतिक आदि क्रांति हो सकती है कि नही हो सकती है तो क्यों ?

५— विकास में मनुष्य नई नई व्यवस्थायें ही बनाता जायगा या पुरानी व्यवस्थाओं के किसी अंश को फिर ग्रहण करेगा?

द्वंदात्मक भौतिकवाद से जो इन प्रश्नों का उत्तर मिला है वह संशोधनीय है।

१— द्वंदात्मक भौतिकवाद से इतना ही पता लगता है कि प्रकृति म संघर्षमूलक परिवर्तन हो रहे हैं। परिवर्तनों से जटिलता बढ़ रही है यह भी ठीक है परन्तु इसका कोई करण स्पष्ट नहीं है कि विकास ही क्यों हो रहा है पतन क्यों नहीं। जब कि वर्तमान अवस्था के नाश से उन्नति अवनति दोनों हो सकती हैं।

२— सारे परिवर्तन भौतिक हैं मानसिक नहीं, जो मानसिक हैं वे भौतिकता की छाया हैं, माया कुछ भी नहीं है, किन्तु सब सत्य हैं, इस विवेचन में अनुभव मूलक मोक्ष सुख का कुछ पता नहीं लगता।

३— आर्थिक क्रांतियां उत्पादन साधनों के बदलने से हुयीं यह ठीक है। पर उत्पादन के साधन क्यों बदले ? इसका स्पष्ट उत्तर नहीं है और उत्पादन के नये साधन न आने पर भी आर्थिक क्रांतियां हो सकती हैं। इस तरफ ध्यान नहीं दिया गया।

४— आर्थिक क्रांतियों के बिना भी दुनियां में क्रांतियां हो सकती ह इस पहलू पर भी कुछ उपेक्षा है।

५— पुरानी बाते भी नई बनकर आ सकती है, आती हैं ? इसका ठीक खुलासा नहीं किया गया है बल्कि कुछ भ्रम पैदा होता है।

इस प्रकार द्वंदात्मक भौतिकवाद में कुछ त्रुटियां मालूम होने से उनके स्थान पर किसी पर किसी दूसरे दर्शन के प्रतिष्ठा करनें की

जरूरत है। उसके लिये हमें सच्चिदानंदवाद का विचार करना चाहिये।

सच्चिदानंदवाद का सार यह है—

१— प्रकृति मूलरूप में सत् है और उस सत् का सार चित्। प्रकृति स्वभाव से चित् के रूप में विकसित होती है।

२— चित् में सुख और दुःख दोनों शामिल हैं। किन्तु चित् की प्रवृत्ति आनंद की ओर है।

३— चित् मूलमें अपने सुख दुःख का ही संवेदन करता है पर ज्यों ज्यों विकसित होता जाता है त्यों त्यों अन्य पदार्थों का संवेदन करता है।

४— चित् आनन्द की ओर बढने का जो प्रयत्न करता है वही सब क्रांतियों और विकास का मूल है।

५— आनंद की ओर बढ़ने का अर्थ है संसार में अधिक से अधिक आनन्द पैदा करना। अधिक आनन्द पैदा करने में जहां एक तरफ आनन्द की मात्राका बढ़ाना है वहां दूसरी तरफ अधिक से अधिक प्राणियों को आनन्दी करना भी है।

६— परार्थ की सिद्धि पर स्वार्थ की सिद्धि अवलम्बित है इसलिए आनन्द वृद्धि के लिऐ प्रत्येक चित् स्वार्थ परार्थ समन्वय की कोशिश करता है।

७— जीवन में संघर्ष और सहयोग दोनों है पर समाज रचना में सहयोग की ही मुख्यता है। ज्यों ज्यों विकास होता जाता है त्यों त्यों संघर्ष घटता जाता है और सहयोग बढ़ता जाता है।

यही सच्चिदानंदवाद है। यह ईश्वर अनीश्वरवाद के द्वंद से परे है। द्वैत अद्वैत का द्वंद भी इसम नहीं है। इसमें संसार को वास्तविक माना गया है माया नहीं। हां मनका काफी प्रभाव सुख दुःख पर पड़ता है। इसलिए दुःख सुख को अमुक अंश में मनकी माया भी

पृष्ठ ११ का शुद्धि पत्र

पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४	द्रव्यमान	दृश्यमान
१५	क्योंकि जबतक अनुभूतियों	क्योंकि जबतक बाहरी जगत न हो तबतक अनुभूतियों

है और ऐतिहासिक क्रांतियों और भविष्य में होने वाली क्रांतियों पर भी एक नजर डाल लेना है ।

---*---

१—विकासगति

संसार गतिमय है । उष्णता गति का ही रूप है ,परमाणुओं में परस्पर आकर्षण है । गति और आकर्षण के कारण एक ऐसी अवस्था आजाती है जब चैतन्य का प्रकटीकरण होता है । अत्यन्त तीव्र गति, जिससे असह्य उष्णता पैदा होती है, और अयंन्त मंद गति, जिससे तीव्र शीतता पैदा होती है, चैतन्य का प्रकटीकरण या निर्माण नहीं कर पाते गत्यात्मक विश्व में कभी चैतन्य का प्रकटीकरण हो जाता है कभी चैतन्य का प्रलय । पर जब चैतन्य का प्रकटीकरण होता है तब विकास होता है । चैतन्य न हो तो विकास का कोई अर्थ नहीं । जो ग्रह इतने गर्म हैं कि उनमें चैतन्य का प्रकटीकरण नहीं हुआ है और जो इतने ठंडे या वायुशून्य हो गये हैं कि उनमें चैतन्य नहीं रह सकता है, उन दोनों को ही विकसित नहीं कह सकते । चैतन्य को प्रकट करने की योग्यता के आधार से ही किसी को विकसित या अविकसित कहा जा सकता है उदाहरण के लिये हम नीहारिकाओं की अपेक्षा सौर जगतको विकसित मानते हैं क्योंकि इसमें चैतन्य के विकास की अधिक संभावना है । इसी प्रकार सौर जगत में भी वह पिंड अधिक विकसित है जो चतन्य के प्रकटीकरण के अधिक निकट है या उसकी मात्रा में अधिक है । चैतन्य से निरपेक्ष विकास का कोई अर्थ नहीं । इस प्रकार

जगत में विकास और प्रलय का चक्र चलता रहता है। गतिमय विश्व में विकास भी स्थिर नहीं है।

हां! जब एक बार चैतन्य प्रगट हो जाता है। तब उसकी कोशिश विकास की ओर होने लगती है। तब चैतन्य परिमाण की दृष्टि से भी विकास करता है और गुण की दृष्टि से भी विकास करता है।

चैतन्य दुःख छोड़ कर सुख चाहता है इसलिये उसकी कोशिश विकास के लिये होती है।

२— संसार की वास्तविकता

सच्चिदानंदवाद के अनुसार संसार वास्तविक है। वास्तविक को बहुत से लोग भौतिक कहते हैं। इससे भी काम चल सकता है, फिर भी वास्तविक कहना ही ठीक है। जड़ भूत के सिवाय कोई चेतन शक्ति विश्व में है या नहीं—इस विवाद में पड़नें की यहां जरूरत नहीं, परन्तु हो या न हो—वस्तु के भीतर सबका अन्तर्भाव है।

यह द्रव्यमान जगत सिर्फ चेतन की अनुभूतियों का ही खेल है, यह बात सच्चिदानंदवाद नहीं मानता। क्योंकि जब तक अनुभूतियों में विभिन्नता आ ही नहीं सकती। किसी चीज की अनुभूति न हो तो वह चीज नष्ट नहीं हो जाती या उसका अभाव नहीं कहा जा सकता इसलिये सच्चिदानंदवाद मायावाद का विरोधी है वह संसारको वास्तविक मानता है।

फिर भी सारे सुख दुःख का आधार बाहरी जगत मनके बाहर का जगत ही नहीं है। यद्यपि सुख दुःख के बाहरी आधार उपेक्षणीय नहीं हैं फिर भी मनुष्य सुख सामग्री रहते हुए भी दुःखी हो सकता है और बाहर दुःख सामग्री रहते हुए भी सुखी हो सकता है। इसलिये मैंनें सत्येश्वर गीता में यह ठीक लिखा है,

दुख और सुख मन की माया।
मन नें ही संसार बसाया॥

ऐसे भी वन्य समाज हैं जो बाहरी दृष्टि से वैभवहीन होने पर भी काफी आनंद में रहते हैं। और ऐसे भी वैभवशाली समाज हैं जिनमें लोग वैभव के भीतर रहते हुए भी ईर्ष्या तृष्णा अविश्वास असहयोग आदि स्वार्थपरता के कारण बैचैन रहते हैं।

मनुष्य अपनी मानसिक विचारधारा और बाहरी वैभव के कारण अपने भीतर बाहर किस प्रकार स्वर्ग नरक की अर्थात् पर्याप्त सुख की और पर्याप्त दुःख की सृष्टि करता है, इस दृष्टि से समाज के चार भेद हैं— १ उत्तम २— मध्यम ३— अधम ४— अधमाधम।

उत्तम— बाहर सुख भीतर सुख।

मध्यम— बाहर दुःख भीतर सुख।

अधम— बाहर सुख भीतर दुःख।

अधमाधम— बाहर दुःख भीतर दुःख।

उत्तम— यह आदर्श या सर्वथा श्लाघ्य अवस्था है। समाज में जब अधिक से अधिक उत्पादन, ठीक ठीक विभाजन, परस्पर प्रेम, विश्वास, सहयोग आत्मीयता आदि गुण पर्याप्त मात्रा में होते हैं तब उत्तम अवस्था मानी जाती है।

मध्यम — समाज का जब भौतिक विकास नहीं होता परस्पर, में सहयोग, विश्वास प्रेम होता है। जीवन को एक खेल समझने की वृत्ति होती है तब मध्म अवस्था है।

अधम— जब भौतिक विकास काफी हो जाता है पर प्रेम ईमानदारी उदारता आदि गुण नहीं होते। तब अधम अवस्था है।

अधमाधम— जब न तो भौतिक विकास हो न प्रेम ईमानदारी उदारता आदि गुण हो। तब अधमाधम अवस्था है।

मतलब यह कि ऐसे समाज और ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जिनकी बाहरी परिस्थितियां सुख के अनुकूल न हों किन्तु मानसिक सुख के कारण वेही अधिक सुखी हों, और ऐसे भी समाज हो सकते हैं

जिनकी बाहरी परिस्थितियां सुख के अनुकूल हों फिर भी वे दुःखी हों इसलिये मैंनें यह कहा है दुःख और सुख मन की माया।

बाहरी संसार वास्तविक है, वह मन की माया या मिथ्या नहीं है किन्तु उसका जो प्रभाव सुख दुःख रूप पड़ता है उसमें मनुष्य बहुत कुछ अंशों में स्वतंत्र है, वह अपनें मन के अनुसार सुख का या दुःख का संवेदन कर सकता है।

३ — क्रांति के कारण

मनुष्य या समाज सच्चिदानंदवाद के अनुसार आनंद के लिये सदा प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न के तीन कारण या लक्ष्य है —

१— इन्द्रियों के लिये सुखकर सामग्री अधिक से अधिक पैदा हो (अधिकोत्पदन)।

२— सुख सामग्री पैदा करनें के लिए कम से कम श्रम करना पड़े- (न्यूनश्रम)।

३— उत्पन्न सामग्री में अधिक से अधिक हिस्सा मिले (अधिको-पलब्धि)

४ परस्पर प्रेम समभाव और सहयोग की वृद्धि।

इन चार कारणों से परिवर्तन या क्रांतियां होती रहती हैं। इन्हीं कारणों से औजारों का विकास होता है। औजारों के विकास से उत्पादन बढ़ता है। उत्पादन के साधनों की मालिकी का सवाल पैदा होता है, विभाजन के नये नियम बनते हैं, नई आर्थिक व्यवस्था आती है, उसका जीवन की अन्य व्यवस्थाओं पर प्रभाव पडता है। विषमता स्वार्थपरता सीमित करनें के लिये क्रांति होती है।

सच्चिदानंद वाद से यह बात स्पष्ट है कि उत्पादन के साधन क्यों बदलते हैं? यह भी स्पष्ट है कि उत्पादन के साधन न बदलने पर विभाजन की समस्या यदि जटिल हो जाय तो भी क्रांति होती है।

धीरे धीरे व्यक्तियों में समत्व की भावना जाग्रत हो जाती है इसलिये भी विभाजन के नये नियमों के लिये क्रांति होती है ।

वन्ययुग से दासयुग, सामन्तवादी युग, पूंजीवादी युग तक जो क्रांतियां हुयी उनमें अधिकोत्पादन और न्यूनश्रम का आनंद मुख्य कारण था । तीसरा कारण अधिकोपलब्धि कुछ गौण था-पर पूंजीवादी युग से समाजमादी क्रांति जो हो रही है उसमें अधिकोपलब्धि अर्थात सबको यथाशक्य सामान विभाजन मुख्य कारण है । पहले दो कारण गौण हैं ।

प्रत्येक चित् आनंद की ओर बढ़ना चाहता है । इसलिये प्रारम्भ म संघर्ष होता है । बाद में स्वार्थ परार्थ समन्वय होता है । इसलिये नई नई क्रांतियां होकर वे स्थिर रूप धारण करती रहती हैं

प्राचीनयुग म यूनान म अफलातून (प्लेटो) के जरिये जो समाज-वादी योजना बनाई गयी, भारत में किसी किसी राजा ने प्रजा की सब सम्पत्ति बराबर बराबर सब को बांटी । क्रांति का यह प्रयत्न सम-विभाजनरूप अधिकोपलब्धि के कारण हुआ । इससे मालूम होता है कि पूंजीवादी युग सरीखे उत्पादन साधनों में विकास और वृद्धि न होने पर भी मनुष्य समाजवाद की तरफ झुक सकता है । इसका कारण चित्त की आनंद की ओर अर्थात उसे व्यापक बनाने की ओर प्रवृत्ति है ।

द्वंदात्मक भौतिकवाद क्रांतियों या आर्थिक क्रांतियों का मुख्य कारण आर्थिक साधनों में वृद्धि ही बताता है । इसमें सन्देह नहीं कि यह एक बड़ा कारण है, पर सिर्फ इसी कारण से समस्त क्रान्तियों की उपपत्ति नहीं बैठती, क्योंकि इसके बिना भी क्रांतियां हुयी हैं । हो सकती हैं उनकी तरफ लोगों का ध्यान गया है और उसके लिये कुछ सफल प्रयत्न भी हुए हैं ।

सच्चिदानन्दवाद सभी क्रांतियों की अपनी उपपत्ति ठीक रूप में पेश करता है ।

४— अन्यक्रांतियां

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने सभी तरह की क्रांतियों के मूल में आर्थिक कारण उपस्थित किये हैं। चाहे वे धार्मिक हों सामाजिक हों राज-नैतिक हों। इसमें संदेह नहीं कि इससे क्रांतियों के मूल को समझने में काफी सुविधा हुयी है। और एक नई दिशा की तरफ ध्यान गया है।

धन का प्रभाव जीवन की हर घटना के साथ इस प्रकार लगा हुआ है कि कहीं न कहीं थोड़े बहुत अंश में वह मिल ही जाता है फिर भी यह भूलना न चाहिये कि हर तरह का आनंद धन का ही आनंद नहीं है, इसलिये हर तरह की क्रांति धन की ही क्रांति नहीं कही जा सकती।

बहुत से लोग महत्व के लिये, पूजा के लिये, अपनी टेक रखने के लिये, प्रेम के लिये धन वैभव को लात मारते रहे हैं। इससे नई नई धर्मसंस्थायें और समाज व्यवस्थायें खडी हुयी हैं। पीछे से वहां भी धन का प्रभाव आ ही गया है पर उनका उद्गम धन के कारण नहीं हुआ।

द्वंदात्मक भौतिकवाद क्रांति के मूल में धन पर अधिक से अधिक जोर देता है। उसमें काफी सचाई होने पर भी कुछ अंश में सचाई की कमी है। सच्चिदानंदवाद में वह कमी नहीं दिखाई देती। वह छोटी बड़ी सब तरह की क्रांतियों के मूल में पाया जाता है।

५— परिवर्तन

द्वंदात्मक भौतिकवाद ने इस बात पर बड़ा जोर दिया है कि हर एक व्यवस्था अपने साथ अपनी मृत्यु का बीज लाती है उसके मरने पर नई व्यवस्था आती है। उसके बाद वह पुरानी व्यवस्था नहीं लौटती। इसमें तो सन्देह नहीं कि जो घटना घट चुकी वह फिर लौट कर नहीं

आ सकती, परन्तु एक सी घटनाएं बार बार दुहराती हैं इसमें संदेह नहीं। मैं पहिले कह चुका हूं कि परमाणु रचना से लेकर विश्व की समस्त रचना चक्रात्मक है। ग्रह नक्षत्र सब चक्रात्मक घूम रहे हैं। हर साल वे ही ऋतुएं आती रहती हैं। इसी प्रकार समाजकी आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्थाएं भी चक्रात्मक हैं। आर्थिक क्षेत्र में कभी व्यक्तिवाद से समाजवाद कभी समाजवाद से व्यक्तिवाद, राजनैतिक क्षेत्र में कभी जनतंत्र, से एकतंत्र कभी एकतंत्र से जनतंत्र आता रहता है। वन्ययुग में एक तरह का समाजवाद (साम्यवाद) था फिर व्यक्तिवाद आया, और अब फिर समाजवाद आ रहा है। यूनान में, मगध में बहुत समय तक जनतंत्र या गणतंत्र रहा पर फिर एकतंत्र आया। सामा सामाजिक क्षेत्र में भी कभी स्त्रियां काफी स्वतंत्र थी कभी काफी पराधीन, अब फिर स्वाधीनता की ओर बढ़ रही है।

मतलब यह कि विश्व परिवर्तन चक्रमय है। वह चक्र कभी कभी छोटा कभी बड़ा होता है अर्थात पुरानी बातें कभी जल्दी दुहराई जाती है। कभी देर से, पर दुहराई जाती हैं। इसका कारण है निरतिवाद।

अतिवाद आनंद का विरोधी है। अगर मुझे गर्मी लग रही है तो मैं ठंडे उपकरण चाहूंगा। पर ठंडे उपकरण बढ़कर अतिरूप हो जायं, मैं ठंड के मारे कांपनें लगूं तो मुझे गर्मी की ओर लौटना पड़ेगा। इसी प्रकार जब जनतंत्र अतिरूप हो जाता है, समाज के आनंद में बाधक बन जाता है तब उसके स्थान पर एकतंत्र की जरूरत होती है, यही कारण है कि जनतंत्र के बाद अधिनायक या राजा आये हैं। मगध, यूनान, फ्रांस का इतिहास इसका साक्षी है। परन्तु जब एकतंत्र अतिरूप होकर जनता के आनंद में बाधा बन जाता है तब एकतंत्र के स्थानपर जनतंत्र आ जाता है। आज के अधिकांश देशों का इतिहास इसका साक्षी है। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद से समाजवाद की ओर, और समाजवाद से व्यक्तिवाद की ओर गति आगति होती रहती है। समाज अतिवाद छोड़कर निरतिवाद अपनाता रहता है।

सच्चिदानंदवाद नये पुराने, दुहराने न दुहराने की पर्वाह नहीं करता वह आनंद का विचार करता है। आनंद के लिये यदि नये की जरूरत हो तो नये का निर्माण करता है यदि पुराने की जरूरत हो तो पुरानेका पुर्ननिर्माण करता है। उसमें किसी भी तरह के काल मोह को स्थान नहीं है।

जगत् आनंद की ओर बढ़ रहा है, प्रत्येक चित् आनंद के प्रयत्न में है, आनंद की मात्रा बढ़ाई जा रही है और इसका क्षेत्र भी। इस प्रयत्न में कभी स्वार्थ और अज्ञान बाधा भी डालते हैं, इसलिये विशेष चित्–महामानव--इन्हें दूर हटानें की कोशिश करते है, इससे संघर्ष भी होते हैं, परन्तु अन्त में समन्वय और सहयोग से आनन्द की मात्रा और क्षेत्रमें वृद्धि होती है। संक्षेप में यही दुनियां का इतिहास है और यही भविष्य तथा वर्तमान। सच्चिदानंद वाद अन्य वादों की बहुत सी बातों को स्वीकार करता है पर उनका अधूरापन दिखाकर एक त्रैकालिक ध्येय पर प्रकाश डालता हैं।

महर्षि मार्क्सका द्वंदात्मक भौतिकवाद दुनिया के इतिहास पर काफी नया प्रकाश डालता है, विकास पथ की बहुत सी बाधाओं को दूर करता है। महर्षि मार्क्स के युग के अनुसार घटनाओं की उपपत्ति भी बिठलाता है, फिर भी कुछ अधूरे सत्यके कारण भ्रम भी पैदा करता है। श्री एंगिल्स के पत्र मैं पहिले उद्धृत कर चूका हूं इससे मार्क्सवाद के अधूरेपन के कारणों पर प्रकाश पड़ जाता है। आज के युग को महर्षि मार्क्स और उनके द्वंदात्मक भौतिकवाद के प्रति कृतज्ञ रहते हुए भी व्यापक दृष्टि से विचार करने के लिये तथा युग समस्याओं को स्वतंत्र चिन्तन से सुलझाने के लिये सच्चिादानंदवाद का सहारा लेना चाहिये।

२१ बुधी ११९५३ इ. सं.
१३–५–१९५३ ई.

सत्यभक्त
सत्याश्रम वर्धा

सत्यभक्त साहित्य—

	सत्यामृत (मानवधर्मशास्त्र)	
१	,, दृष्टिकांड	५)
२	,, आचार कांड	२॥)
३	,, व्यवहार कांड	५)
४	सत्येश्वर गीता	२॥)
५	नया संसार (यात्रा विवरण)	१॥)
६	जीवन-सूत्र	॥)
७	ईमान (संस्मरण)	॥)
८	सत्यलोक यात्रा	१॥)
९	गागर में सागर (चुटकिले)	॥।)
१०	मन्दिरका चबूतरा (उप.)	॥।)
११	अग्नि परीक्षा (कहानियां)	॥।)
१२	सुख की खोज ,,	१)
१३	नाग यज्ञ (नाटक)	१।)
१४	आत्मकथा	२)
१५	निरतिवाद (राजनीति)	॥।)
१६	न्यायप्रदीप	१)
१७	चतुर महावीर (कहानियां)	१)
	जैन धर्म मीमांसा—	
१८	,, इतिहास और सम्यक्त्व	१॥)
१९	,, ज्ञानमीमांसा	२)
२०	,, आचार मीमांसा	२)
२१	बुद्ध हृदय (जीवनकथा)	॥)
२२	कृष्णगीता	२)
२३	संस्कृति समस्या	१॥)
२४	वन्दना (गीत)	॥=)
२५	बोधगीत ,,	॥)
२६	भावगीत ,,	॥)
२७	मानवभाषा (नई भाषा)	२)
२८	सन्तान समस्या	।)
२९	क्या संसार दुःखमय है ?	।)
३०	सुलझी गुत्थियां	।=
३१	म. राम (एकांकी)	।
३२	ईसाई धर्म	।-
३३	अनमोल पत्र	।≡
३४	हिन्दू भाइयों से	=)।
३५	मुसलिम भाइयों से	≡
३६	सूरज प्रश्न	॥।=
३७	क्यों सलाम करूं	≡)
३८	हिन्दू मुसलिम मेल	≡)
३९	हिन्दू मुसलिम इत्तहाद	≡)
४०	लिपी समस्या	।)
४१	शीलवती (वेश्या सुधार)	=॥)
४२	सत्यसमाज और विश्वशांति	=)
४३	सत्यभक्त सन्देश	=)
४४	भावनागीत	=)।
४५	सत्यसमाज	।=)
४६	विवाह पद्धति	≡)
४७	धर्मसमभाव	॥।)
४८	बिन्दूत सिन्धू (मराठी)	॥।)
४९	कुरान की झांकी	।)
५०	चार वाद	=)
५१	सुराज्य की राह	≡)
५२	राजनीति समस्या	॥।=)
५३	महावीर का अन्तस्तल	४)
५४	मार्क्सवाद मीमांसा	१।)

प्रकाशित होनेवाले हैं--

मेरी अफ्रीका यात्रा

मासिक पत्र संगम वार्षिक मूल्य ३)

व्यवस्थापक—सत्याश्रम वर्धा